विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

वर्ष : २०

अंक : ३

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल–मई–जून

* १९८२ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

ार्षिक ८)

एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय–स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थलः– नरकेसरी प्रेस, रायपुर। ४९२००१ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल--मई--जून

वर्ष २०] ★ १९८२ ★ [अंक २

तृष्णा की विकरालता

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥

--इस पृथ्वी पर जितने भी धान, जौ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए।

--महाभारत (आदिपर्व, ८५/१३)

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

प्रिय राखाल,

...मेरे भारत लौट आने का तुम्हारा सुझाव निस्सन्देह ठीक है। किन्तु इस देश में एक बीज बोया जा चुका है और मेरे अचानक यहाँ से चले जाने पर सम्भव है, उनका अंकुर पनप ही न पाये। इसलिए मुझे कुछ समय प्रतीक्षा करनी है। इसके अतिरिक्त तब यहाँ से प्रत्येक कार्य की सुन्दर व्यवस्था करनी सम्भव होगी। प्रत्येक व्यक्ति मुझसे भारत लौटने का आग्रह करता है। यह ठीक है, किन्तु क्या तुम नहीं अनुभव करते कि दूसरों के ऊपर निर्भर रहना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति को अपने ही पैरों पर दृढ़तापूर्वक खड़ा होकर कार्य करना चाहिए। धीरे धीरे सब कुछ ठीक हो जायगा। अभी तो किसी जमीन का पता लगाते रहना न भूलना। हमें दस से बीस हजार तक का बड़ा 'प्लाट' चाहिए। उसे ठीक गंगातट पर होना चाहिए। यद्यपि मेरी पूंजी अल्प है, तथापि मैं अत्यधिक साहसी हूं। भूमि प्राप्त करने की बात ध्यान में रहे। अभी हमें तीन केन्द्र चलाने होंगे--एक न्यूयार्क में, दूसरा कलकत्ता और तीसरा मद्रास में। फिर धीरे

धीरे जैसी कि प्रभु व्यवस्था करेंगे ... स्वास्थ्य पर तुम्हें विशेष ध्यान देना है, अन्य सभी बातें इसके अधीन हों।

भाई तारक यात्रा के लिए उत्सुक हैं। यह अच्छी बात है। परन्तु ये देश बड़े मँहगे हैं। एक उपदेशक को यहाँ कम से कम एक हजार रुपये मासिक की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु भाई तारक में साहस है और ईश्वर प्रत्येक चीज की व्यवस्था करता है। यह बिल्कुल सच है, पर उन्हें अपनी अंग्रेजी में कुछ सुधार करना आवश्यक है। सही बात यह है कि मिशनरी विद्वानों के मुँह से अपनी रोटी छीननी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपनी विद्वत्ता के आधार पर इन लोगों पर हावी होना पड़ता है। अन्यथा व्यक्ति एक ही फूँक में उड़ जायगा। ये लोग न तो साधु समझते हैं और न संन्यासी, और न त्याग का भाव ही। जो बात ये समझते हैं, वह है विशाल अध्ययन, वक्तृत्व-शक्ति का प्रदर्शन और अथक क्रियाशीलता। और सर्वोपरि, सारा देश छिद्रान्वेषण की चेष्टा करेगा। पादरी चाहे शक्ति द्वारा, चाहे छल से दिन-रात तुम्हें फटकार बताएँगे। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए तुम्हें इन बाधाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है। मातृकृपा से सब कुछ सम्भव है। किन्तु मेरी राय में यदि भाई तारक पंजाब और मद्रास में कुछ संस्थाओं का स्थापन करते चलें और तुम लोग संघबद्ध हो जाओ, तो यह सबसे अच्छी बात होगी। नये पथ की खोज

निस्सन्देह एक बड़ी बात है, किन्तु उस मार्ग को स्वच्छ और प्रशस्त और सुन्दर बनाना उतना ही कठिन कार्य है। यदि तुम उन स्थानों में, जहाँ मैंने गुरुदेव के आदर्शों का बीज बोया है, कुछ समय तक रहो और बीजों को पौधों में विकसित करने में सफल होओ, तो तुम मेरी अपेक्षा कहीं अधिक कार्य करोगे। जो लोग एक बनी-बनायी चीज की व्यवस्था नहीं कर सकते, वे इस चीज के प्रति, जो अभी तक नहीं मिली, क्या कर सकेंगे? यदि तुम परोसी हुई थाली में थोड़ नमक मिलाने में असमर्थ हो, तो मैं कैसे विश्वास करूँ कि तुम सारे व्यंजन प्रस्तुत कर लोगे? इसके बदले भाई तारक अल्मोड़े में एक हिमालय-मठ स्थापित करें तथा वहाँ एक पुस्तकालय चलाएँ, ताकि हम अपने अवकाश का कुछ समय एक ठण्डे स्थान में बिताएँ और आध्यात्मिक साधना का अभ्यास करें। इतने पर भी किसी के द्वारा अंगीकृत किये गये मार्ग के विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है, वरन् ईश्वर कल्याण करे—'शिवा वः सन्तु पन्थानः'– 'तुम्हारी यात्रा मंगलमय हो!' उन्हें किंचित प्रतीक्षा करने के लिए कहो। शीघ्रता करने से क्या लाभ? तुम सभी सारी दुनिया की यात्रा करोगे। साहस! भाई तारक के भीतर कार्य करने की महान् क्षमता है। अतः मैं उनसे बहुत आशा करता हूँ।...तुम्हें याद है कि श्रीरामकृष्ण के निर्वाण के पश्चात् किस प्रकार सभी लोगों ने हमें कुछ निकम्मा और दरिद्र बालक समझकर हमारा

परित्याग कर दिया था। केवल बलराम, सुरेश, मास्टर और चुनी बाबू जैसे लोग ही आवश्यकता के उन क्षणों में हमारे मित्र थे। और हम उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते।.... अकेले में चुनी बाबू से कहो कि उनके लिए कोई भय की बात नहीं है; जिनकी रक्षा प्रभु करते हैं, उन्हें भय से परे होना चाहिए। मैं एक छोटा सा आदमी हूँ, परन्तु प्रभु का ऐश्वर्य अनन्त है। 'माभैः माभैः'–भय छोड़ो। तुम्हारा विश्वास न हिले।... जिसे प्रभु ने अपना लिया है, क्या उसके लिए भय में कोई शक्ति है?

सदा तुम्हारा ही
विवेकानन्द

संसार चाहता है चरित्र। संसार को आज ऐसे लोगों की आवश्यकता है, जिनके हृदय में निःस्वार्थ प्रेम प्रज्वलित हो रहा है। उस प्रेम से प्रत्येक शब्द का वज्रवत् प्रभाव पड़ेगा। जागो, जागो! ऐ महान् आत्माओं, जागो! संसार दुःखाग्नि से जला जा रहा है। क्या तुम सोये रह सकते हो?

— स्वामी विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

जैसे गर्भ में धारण करनेवाली माता अपनी सन्तानों को उचित भोजन आदि कराते हुए यह ध्यान रखती है कि उनका स्वास्थ्य अच्छा रहे और शरीर पुष्ट हो, उसी प्रकार श्री माँ भी अपनी सन्तानोंको भोजन खिलाती थीं। वे इसके लिए प्रयत्न करतीं कि भोज्य पदार्थ अच्छी तरह पक गया हो, स्वादिष्ट तथा साफ सुथरा हो, पर रसना की लालसा बढ़ाना अथवा राजसी भोजन उन्हें पसन्द न था। किसी विशेष उपलक्ष में ही उत्तम भोज्य पदार्थ तैयार किये जाते, पर वह भी अत्यन्त थोड़ी मात्रा में। माँ के हाथ का भोजन करके किसी को कभी बीमार होते नहीं देखा गया। सन्तान के शारीरिक स्वास्थ्य के साथ साथ उसके मानसिक और आध्यात्मिक विकास की ओर भी माँ का कैसा ध्यान था इस सन्दर्भ में दो-एक घटना का उल्लेख करता हूँ।

उनका एक शिष्य बहुत दिनों से मलेरिया से भुगत रहा था। उसने जब अपने जन्मस्थान जाने की इच्छा प्रकट की, तो माँ सन्तुष्ट हो बोलीं, "कुछ दिन वहाँ रहकर हवा बदल आओ।" उसने तब सांसारिक सम्बन्ध पूरी तरह से छोड़े नहीं थे। वह जब जाने लगा, तो माँ बोलीं, "माता-पिता को शिव-पार्वती के समान देखना और उनकी सेवा करना। इससे मन की उन्नति

होगी।" इस घटना के लगभग तीन वर्ष बाद फिर से जब उसका स्वास्थ्य खराब हुआ और उसने माँ के पास घर जाने की इच्छा व्यक्त की, तो माँ ने उसे अनुमति तो दे दी, जब वह जाने के दिन माँ को प्रणाम करने और उनका आशीर्वाद लेने उपस्थित हुआ, तो वे आँसू बहाते हुए बोलीं, "घर में अधिक दिन मत रहना, मोह में पड़ जाओगे।" उन्होंने उसके सिर पर हाथ रख आशीर्वाद दिया, ठाकुर के निकट उसके लिए प्रार्थना की। माँ का यह ममत्व उसके हृदय को छू गया। तो क्या माँ सचमुच उसके भविष्य को अपनी आँखों के सामने देख रही थीं? क्योंकि लड़का अपने घर जाकर कई प्रकार के झमेलों में फँस गया और बेसुध होकर एक दूसरे रास्ते चल निकला। वह तो माँ की चेतावनी और उसके लिए व्याकुलता ही थी, जो उस लड़के को मोह के गर्त से उबार सकी थी। धीरे धीरे वह जब पतन की काफी गहराई में उतर चुका था, तब अचानक एक दिन उसके नेत्रों के समक्ष माँ का वह करुणापूर्ण मुखमण्डल भासित हो उठा। तब वह और किसी ओर न देख सीधे माँ के चरणों में पागल के समान दौड़े आया। माँ ने मानो अपने स्नेह की जंजीर से ही उसे पकड़कर अपने पास खींचा था।

संसार में किस प्रकार रहना चाहिए? विषयों का मोह सबके मन को कलुषित करता है। साधुओं के लिए एक ओर जैसे काम-कांचन से दूर रहने की सुविधा है,

वैसे ही दूसरी ओर व्यक्तिविशेष की अतृप्त वासना के कारण विपथगामी होने का भी डर है। फिर एक ओर गृहस्थ के लिए जैसे भोग-वासना की कुछ मात्रा में तृप्ति की सुविधा है, तो दूसरी ओर उसके मोहबन्धन के और मजबूत होने का भी डर है। इसीलिए माँ सामान्य घटना के सन्दर्भ में भी ठाकुर की गहरी तत्त्वदृष्टि का उल्लेख करते हुए कहतीं, "ठाकुर देखते कि हालदारपुकुर (तालाब) में पनडुब्बी पानी में डूबी, फिर निकली, पानी पर तैरने लगी, पर उसकी देह में एक बूँद पानी नहीं रहा, उसने सब झटकारकर फेंक दिया। और यह देख उन्होंने कहा था 'संसार में ठीक ऐसे ही रहना चाहिए। मनुष्य विषयों के बीच तो रहेगा, पर मन से सारी विषयासक्ति झटकारकर फेंक देगा।' ठाकुर सबको पूरी तरह से अनासक्त हो संसार में रहने का उपदेश देते।"

यद्यपि माँ संसार में दिनरात बहुत झंझटों के बीच रहतीं, सब प्रकार के काम-काज का दायित्व निभातीं, तथापि उनका मन सर्वदा पूरी तरह से निर्लिप्त रहता। उनका यही भाव रहता कि यह ठाकुर का संसार है। और वे जैसा रखेंगे उसी प्रकार रहना होगा; अच्छा-बुरा, सुख-दुःख जो अपने कर्मफल के कारण आ रहे हैं, जा रहे हैं। उन सबकी चिन्ता से मन को चंचल न बनाते हुए, भगवान् में भक्तिभाव को स्थिर रखते हुए सब कुछ सहते जाना, संसार की किसी वस्तु के लिए मन में खिंचाव न रखना; सब प्रकार की आसक्ति पनडुब्बी के

पानी झटकने की तरह भीतर से झाड़-पोंछकर साफ कर डालना—ये ही बातें हरदम मां के उपदेशों, उनकी सीख, उनके व्यवहार और काम-काज में दिखायी देती थीं।

संसार की चकाचौंध, उसका ऐश्वर्य सब क्षणभंगुर है—अभी है और अभी नहीं। मां ने पहले-पहल कामारपुकुर गांव में जो समृद्धि देखी थी, वह बाद में नष्ट हो गयी थी। वे इन्हीं सब बातों का उल्लेख करके अपनी सन्तानों को सिखावन देतीं। कामारपुकुर में ठाकुर के घर के उत्तर की ओर अवस्थित युगियों के बारे में कहतीं "युगियों के इस मकान में कितने लोग रहा करते थे, कैसी उनकी समृद्धि थी, पर अब देखो, सब खत्म हो गया। (पूर्व में स्थित) लाहा लोगों के ऐश्वर्य-समृध्दि की क्या बात कहें—उनकी यह अतिथिशाला, सदाव्रत, मन्दिर, स्वजन-परिवार, उत्सव, पर्व, बारह महीने में तेरह त्योहार, (ठाकुर के घर के सामने) यह खिड़कीपुकुर (तालाब)– नीला पानी तरंगें मारता रहता, कहां गया वह सब! (ठाकुर के मकान के दक्षिण ओर) पाइन लोग भी पैसे-वाले परिवार थे, और थे भी कितनेकितने लोग, देखते देखते सब खत्म हो गया! "वे इन सब बातों का उल्लेख इसलिए करतीं कि सन्तानों के मन में संसार का क्षणभंगुरत्व और धन- ऐश्वर्य की अस्थिरता का विचार दृढ़मूल हो जाय, जिससे ऐश्वर्य के प्रति मोह-मद न पैदा हो। यदि यह बात मन में दृढ़मूल की जा सके कि यह सब बाजीगर का खेल है और एक दिन वह सपने के

समान लुप्त हो जायगा, तो सचमुच उससे वैराग्य पनपता है।

अपने सुखभोग के लिए कहीं भीतर का दयाभाव किसी दिन लुप्त न हो जाय, इस संम्बन्ध में वे ठाकुर का एक चुटकुला सुनाकर सीख देतीं। ठाकुर एक दिन भूती की पोखरी (भूतिर खाल) की ओर से घर लौट रहे थे। पानी गिरा था। पानी की धार के तालाब में बहने के कारण एक मागुर मछली उस धार में तैरकर ऊपर आयी थी, और अब डीह में अटक जाने के कारण छटपटा रही थी। ठाकुर तो दया की मूर्ति थे, उसे देखते ही वे बड़े दुःखी हो गये। पानी के अभाव में होनेवाले मछली के कष्ट को वे अपने प्राणों में अनुभव करने लगे। उन्होंने तुरंत मछली को हाथ में उठाया और तालाब के जल में छोड़ दिया। पानी में जाते ही मछली के आनन्द का क्या कहना! हृदय पीछे पीछे आ रहा था। ठाकुर के मुंह से सारी बात सुनकर वह बड़ा दुःखित हो बोला, "मामा, यह तुमने क्या किया? ऐसी मछली तुमने तालाब में छोड़ दी!" ठाकुर हँसे, उन्हें लोगों के उस सुख का स्मरण नहीं हुआ, जो वे मछली खाकर पाते, उन्हें तो प्राणरक्षा से प्राप्त होने वाले दूसरे के आनन्द की ही सुखद अनुभूति हुई। अपने सुखभोग की आशा छोड़े बिना दूसरे को सुखी नहीं बनाया जा सकता; दूसरों को सुखी बनाने में ही जीवन की सार्थकता है — माँ यही शिक्षा देती थीं।

माँ यह अच्छी तरह जानती थीं कि जैसे जैसे ठाकुर की महिमा का प्रचार हो रहा है, वैसे वैसे लोग ठाकुर और उनसे अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बताकर तरह तरह की अफवाहें फैला रहे हैं और सरल हृदय लोगों को अपनी बात से प्रभावित कर अपना मतलब गाँठ रहे हैं। वे इस सम्बन्ध में अपनी सन्तानों को सावधान भी कर देतीं। एक दिन उनका एक शिष्य शिहड़ गाँव घूमने गया और हृदयराम के मकान पर आया। तब एक बाल-विधवा ने हृदय की भतीजी के रूप में और एक प्रौढ़ व्यक्ति ने हृदय के कनिष्ठ अनुज के रूप में अपना परिचय दे तरह तरह की पुरानी गप्पे हाँकीं। उसने जब लौटकर माँ को वह सब सुनाया, तो माँ गम्भीर हो बोलीं, " क्या जानूँ, बेटे ! आजकल तो कितने ही लोग उनके बारे में कितनी ही बातें कहते हैं ! पहले तो यह सब नहीं सुना।" वह बहुत पहले की बात है; ठाकुर और माँ की महिमा का ज्यों ज्यों प्रचार हुआ है, त्यों त्यों इस प्रकार की प्राचीन कहानियाँ भी बहुत बढ़ी हैं। अब जो भक्त बाहर से कामारपुकुर-जयरामबाटी आते हैं, वे बड़ी अद्भुत अद्भुत घटनाएँ सुनते हैं, जो हमने ४०-५० वर्ष पहले भी नहीं सुनीं। यह बड़े दुःख की बात है कि ऐसी गप्पों का प्रचार करना दुकानदारी और पैसा कमाने का एक नया तरीका बन गया है।

माँ अपनी सन्तानों को भगवान् में विश्वास और भक्ति रखकर, त्याग और तपस्या की ओर दृष्टि रखते

हुए दुनिया में व्यवहार करने की शिक्षा देतीं। उन्होंने कभी भी अपने किसी भी शिष्य से न तो कामारपुकुर के ठाकुर के घर के साथ और न जयरामवाटी में अपने पिता के घर के साथ किसी प्रकार का सांसारिक सम्बन्ध रखने के लिए कहा, न उसके लिए कभी उत्साह दिया। माँ के स्थूल शरीर में रहते हुए ही जो सब शिष्यगण कामारपुकुर और जयरामवाटी आते और इन सब स्थानों पर ठहरते, वे यद्यपि ठाकुर और माँ के पितृ-मातृ कुलों के लोगों के प्रति खूब भक्ति-श्रद्धा करते, यहाँ तक कि ग्रामवासियों के प्रति भी सम्मान और प्रेम का व्यवहार करते, फिर भी वे उन लोगों से अधिक मेल-जोल नहीं रखते थे और माँ भी अपनी त्यागी सन्तानों को सब प्रकार से वैषयिक प्रभाव और विषयी लोगों से दूर रखती थीं। माँ ने अपनी सन्तानों के हृदय से भगवत्सम्पर्क छोड़ और सब प्रकार का सम्पर्क पोंछ डालने की ही चेष्टा की। अब कुटुम्ब-कुटुम्बी का भाव दिन दिन प्रबल होता जा रहा है। भगवान् की लीला में मायिक व्यवहार के मिश्रण से अधःपतन अवश्यम्भावी है।

स्वामी सारदानन्द जी के साथ उनकी अभीष्टदात्री जगज्जननी सारदा देवी कभी तो माँ के समान और कभी पुत्री के समान लीला-व्यवहार करतीं। वह यद्यपि हमारी क्षुद्र बुद्धि की समझ के बाहर था, तथापि उस अलौकिक शुद्ध प्रेमाभक्ति की चमक कभी कभी हमारी आँखों को चौंधिया जाती। प्रशान्त सागर के समान गभीर-गम्भीर

हिमालय के समान अचल-अटल रामकृष्ण मठ-मिशन के कर्णधार सारदानन्द जी जयरामवाटी में माँ के दरवाजे पर बैठकर गाँव के सामान्य जनों, बाल-वृद्ध सबके साथ समान रूप से मिलकर खुले हृदय से हँसी-विनोद कर रहे हैं, गाँव वालों की मोटी मुरती-माखुर का सेवन करते हुए बातें कर रहे हैं और सुन रहे हैं ! खेत से निकली मटर फल्ली और घर का मुरमुरा मिलाकर खाने में क्या मजा आता है ! माँ की दी हुई चीज के समान सन्तान के लिए और क्या प्रिय हो सकती है ? फिर पुत्री की बीमारी से पिता को कितनी चिन्ता, कितना उद्वेग ! कहाँ कलकता शहर का सुख-समृद्धि-आराम और आने जाने के लिए गाड़ी-वाहन की सुविधा और कहा दुर्गम, मलेरिया से भरा आधुनिक सुख-सुविधा कें साधनों से नितान्त रहित छोटा सा गाँव जयरामवाटी ! सब प्रकार का दुःख बिना उद्वेग के सहते हुए स्नेहमय पिता अपनी दुलारी बेटी को देखने और उसकी चिकित्सा आदि की व्यवस्था करने दूर का रास्ता तय करते हुए भागा चला आ रहा है। अस्वस्थ कन्या के पास आकर जब पिता खड़ा हुआ, तो दोनों आपस में नेत्रों के सहारे क्या बोले यह तो वे ही जानें ! दूसरों के कानों में भीतर हृदय में प्रविष्ट होने वाली मात्र दो अस्फुट ध्वनियाँ सुनायी पड़ीं—'बेटा' ! 'माँ' !

ठाकुर के समय की चार उच्च श्रेणी की भक्तिमती महिलाओं के दर्शन का सौभाग्य हमारे जीवन में घटा था। तब वे लोग श्री माँ के चरणों का आश्रय लेकर ही

जीवन धारण किये हुए थीं। बाह्य दृष्टि से यद्यपि वे भी हमारे ही समान मनुष्य-शरीरधारिणी थीं, तथापि भीतर अपने सिद्ध-शरीर में वे किस प्रकार भगवल्लीला का रसास्वादन करती थीं यह तो वे ही जानें, किन्तु हम लोगों की क्षुद्र दृष्टि के सामने उनका जो भी कुछ सामान्य लीला व्यवहार दिखायी देता था, उससे प्रतीत होता था कि वे माँ सारदा को माता और कन्या दोनों ही रूपों में एक साथ पाकर कृतकृत्य हुई थीं। वे चारों ही एक एक कन्या की माँ बनी थीं और अल्पायु दो दिन की पुत्री को खोकर उन्होंने नित्य अविनाशिनी कन्या को चिरकाल के लिए अपने हृदय में धारण किया था। श्री माँ ने भी उनके पास सारे संसार की कन्याओं का मूर्त विग्रह बन, कन्या के रूप से वात्सल्य-रस की पराकाष्ठा प्रदर्शित की थी। फिर दूसरी ओर उन्होंने निखिल मातृत्व की घनी-भूत मूर्ति बन, माता के रूप से उन्हें अपने चरम वात्सल्य रस का भी पान कराया था।

(१) पूजनीया गोलाप-माँ अपनी इकलौटी बेटी को खोकर शोक से मुह्यमान हो ठाकुर की शरण आयी थीं। 'वचनामृत' में उनका उल्लेख 'शोकातुरा ब्राह्मणी' के छद्मनाम से हुआ है। परवर्ती जीवन में वे श्री माँ के आश्रय में उद्बोधन में रहती थीं। उसी समय हमने उनके दर्शन किये थे। वे एक ओर जैसे साक्षात् जगदम्बा समझकर माँ की श्रद्धा-भक्ति करतीं, वैसे ही दूसरी ओर उन्हें साक्षात् अपनी पुत्री के रूप में देखते हुए, अपने

हृदय की समस्त स्नेह-ममता ढालकर दिनरात उनकी सेवा-शुश्रूषा और लालन-पालन में लगी रहतीं।

(२) पूजनीया योगेन-माँ की बात भी 'वचनामृत' में है। जिस दिन ठाकुर ने गोलाप-माँ के घर शुभ पदार्पण किया था, उसी दिन उन्होंने 'गणू की माँ' (योगेन-माँ) के भी घर जाकर उसे पवित्र किया था। योगेन्-माँ तंत्रों के सार-संग्रह 'प्राणतोषिणी' के प्रकाशक प्राणकृष्ण विश्वास की बहू थीं। अतुल वैभव के नष्ट हो जाने से वे कष्टपूर्वक जीवनयापन कर रही थीं। तिस पर एक-मात्र दुहिता को गँवाकर उनका हृदय टूट गया था। तब साक्षात् जगदम्बा श्री माँ सारदा ने इस उच्चकोटि की तान्त्रिक साधिका की समस्त साधनाओं की फल-सिद्धि के रूप में उसकी माता और कन्या बन उसके सारे दुःखों का मोचन किया था। श्री माँ के देहत्याग के कुछ समय बाद एक दिन योगेन-माँ के किसी स्नेहभाजन ने उन्हें उद्‌बोधन में देखकर इस बात के लिए दुःख प्रगट किया कि उनका स्वास्थ्य एकदम टूट गया है। इस पर योगेन-माँ श्री माँ के चित्र की ओर अश्रु-भरे लोचनों से देखते हुए अत्यन्त आर्त स्वर में बोली "क्या करूँ, बेटा! शरीर टूट गया है, वे जो तोड़कर चली गयीं बेटा!" फिर मौन हो बिछौने के ऊपर माँ का जो चित्र सजा हुआ था, उस ओर एकटक देखने लगीं।

(३) भानी बुआ (मानगर्विनी) का जन्म स्थान माँ के पित्रालय के ही पास था। वे माँ के पिता के ए.क-

मान की कन्या थीं, गाँव के रिश्ते में माँ की बुआ थीं, माँ की ही उमर की थीं, छुटपन से ही दोनों में प्यार था। श्यामबाजार में उनका विवाह हुआ था। छोटी उम्र में ही विधवा हो गयीं। एक लड़की पैदा हुई थी- बचपन में ही गुजर गयी। वे विधवा हो पिता के घर ही रहतीं। पति के यहाँ सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय का धर्मभाव उन्हें मिला था। बाद में ठाकुर के दर्शन और कृपालाभ से धन्य हो उन्होंने माँ का आश्रय ले जीवन-धारण किया था। पति और पुत्री को गंवा बैठने वाली इस दुखिया का जीवन माँ की स्नेह-ममता पाकर आनन्द-मय बना था। माँ के लड़के उनके नाती थे। नातियों के साथ ठाकुर-माँ की बात कहकर उनका हृदय उल्लसित होता। माँ के प्रति उनके अन्त:करण की अतुलनीय भक्ति और वात्सल्य भाव को देखने का सौभाग्य बहुतों को मिला था। कलकत्ते में तीर्थ-यात्रा के समय भी वे माँ के साथ कभी कभी रहीं। माँ एक समय कोआल-पाड़ा के जगदम्बा आश्रम में अस्वस्थ थीं। जब यह समाचार भानी बुआ को मिला, तो वे श्री माँ का कुशल-समाचार जानने और उन्हें देखने के लिए अधीर हो गयीं। उनकी वह उत्कण्ठा देख सबको विस्मय हुआ था। वे दिन भर कभी घर के बाहर जातीं और फिर भीतर आतीं; रास्ते के किनारे खड़ी हो जाने कितने लोगों से उन्होंने आँखों में आँसू भरे स्वर में प्रार्थना की होगी "एक बार मुझे माँ के पास ले चलो, बस एक

नजर देख आऊँ।

माँ के घर के ब्रह्मचारियों के हाथ पकड़कर अश्रु-भरे नेत्रों से बारम्बार विनती करते हुए कहतीं, "तुम लोगों के पैर पड़ती हूँ, भैया, एक बार तो ले चलो।" ('मानगर्विनी' से पुकारने का नाम बना 'मानी'। उससे बना 'भानी'; भक्तों ने संशोधन किया 'भानु'। गाँव के रिश्ते में वे माँ की बुआ थीं। माँ बुआ कहकर पुकारतीं। इसी से उनका परिचय हुआ भानी बुआ या भानु बुआ के नाम से)।

(४) कोआलपाड़ा की केदार की माँ अपने प्रथम जीवन में ठाकुर के दर्शन पाकर कृतार्थ हुई थीं ऐसा हमने सुना है। उनके पति जयरामवाटी में माँ के पित्रालय में रहते थे और गाँव की पाठशाला में शिक्षकी करते थे। माँ उन्हें 'भैया' कहकर पुकारतीं। ठाकुर के साथ उनका परिचय और सौहार्द था। प्रौढ़वय प्राप्त होने पर केदार की माँ को माँ की महिमा का ज्ञान हुआ था और तब से उन्होंने ऐकान्तिक रूप से श्री माँ के चरणों में शरण ली थी। अपनी एकमात्र कन्या के गुजर जाने पर उन्होंने माँ का आश्रय ले अपने शोक-विदग्ध चित्त को जुड़ाया था। उनके जीवन में एक ओर जैसे माँ के पादपद्मों में अचल श्रद्धा-भक्ति और साक्षात् जगदम्बा-ज्ञान से माँ की सेवा-पूजा दिखायी देती, वैसे ही दूसरी ओर उनका माँ को एक छोटी बच्ची समझ जो वात्सल्य दिखता और उनके प्रति उनके भीतर

के खिंचाव का जो परिचय मिलता, वह सबको मुग्ध कर देता। माँ कलकत्ता जा रही हैं––कोआलपाड़ा आश्रम से घोड़ागाड़ी द्वारा विष्णुपुर जा रही हैं। साथ में महाराज-गण हैं तथा और भी सब लोग हैं। भोजन और जल-पानादि की सारी व्यवस्था कर ली गयी है। माँ के रवाना होने के समय केदार की माँ ने वस्त्र के एक टुकड़े में थोड़ा 'क्षुद्‌भाजा' * बाँध सेविका के हाथ में देकर आँसू बहाते हुए कहा, "रास्ते में भूख लगने पर माँ के खाने के लिए ये दो दाने––।" मानो छोटी बच्ची के लिए माँ के प्राण आकुल हो गये हों !

एक दिन उद्‌बोधन में एक ब्रह्मचारी किसी विषय में अपने पक्ष के समर्थन में पूजनीय शरत् महाराज (सारदानन्द जी) से बोल उठा, "माँ ने कहा है।" इस पर वे गम्भीर हो उठे और बोले, "देखो, कई बार तो मैं ही यह ठीक से नहीं समझ पाता हूँ कि माँ ने कहा है, या मैंने कहा है।" ब्रह्मचारी लज्जित हो गया और सिर झुकाकर चुप वहाँ से चला गया। बात यह हुई थी कि उसने अपने मन का अभिप्राय माँ के सामने प्रकट किया था और माँ ने उसकी प्रसन्नता के लिए अपनी सहमति मात्र जता दी थी ; वह तो वस्तुतः

* 'क्षुद्‌भाजा' कम भूँजी गयी एक अच्छी खाद्य वस्तु है! मुरमुरे के चावल से टूटे चावल के दानों को अलग कर, अलग से भूंजकर तैयार किया जाता है, रोगियों के लिए उपादेय होता है।

अपनी ही बात को माँ के मुख से व्यक्त कराया गया था। शिशु आकाश का चाँद चाहता है। और माँ भी अबोध शिशु को प्रसन्न करने के लिए चन्द्रमा को पकड़ने के लिए अपना हाथ आकाश की ओर बढ़ाती है। इसलिए यह विचार करके देखना आवश्यक है कि बात माँ की है, अथवा मेरी अपनी। यदि किसी कारण से माँ ने व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके कोई बात कही हो, तो वह सर्व साधारण के लिए भी उपकारी होगी ऐसा मानना गलत है।

पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द ने श्री ठाकुर की वाणी को प्रकाशित करने के सम्बन्ध में जो चेतावनी दी थी, उसका मर्म यह था–"श्री ठाकुर के उपदेश दो प्रकार से व्यक्त हुए थे। कुछ उपदेश तो ऐसे थे, जो व्यक्ति-विशेष की सामयिक अवस्था को देखकर दिये गये थे। इसलिए ऐसे उपदेश देश, काल और पात्र के अनुसार प्रयोज्य है। दूसरे प्रकार के उपदेश सबके लिए, सब प्रकार की अवस्था में प्रयुक्त हो सकते हैं। बिना सोचे विचारे सब उपदेशों को सभी स्थानों पर लागू करने से लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना बनी रहेगी।"

'श्री श्रीमायेर कथा' के प्रकाशन के पूर्व पूजनीय रासबिहारी महाराज ने स्पष्ट कह दिया था, कि उनकी डायरी में जैसा लिखा है, ठीक वैसे ही छापना होगा, थोड़ी भी अदल-बदल करना स्वीकार्य नहीं होगा। क्योंकि उन्होंने श्री मा के मुख से जैसा सुना था, ठीक वैसा ही

लिख रखा था, इसलिए ठीक वैसा ही प्रकाशित होना आवश्यक था। पूज्यपाद शरत् महाराज ने उन्हें समझाकर कहा कि बिना सम्पादन के कुछ प्रकाशित करना उचित नहीं। इस पर रासबिहारी महाराज ने आपत्ति की। तब पूज्यपाद शरत् महाराज ने कहा, "तुम किसके लिए ये सब बातें प्रकाशित करना चाहते हो? लोगों के हित के लिए ही तो? जिससे लोग श्री माँ का उपदेश पढ़कर अपना जीवन उन्नत बना सकें इसीलिए तो? इसीलिए यह आवश्यक है कि उनके उपदेशों को इस प्रकार प्रकाशित करना चाहिए, जिससे लोग उनका मर्म सही प्रकार से ग्रहण कर सकें।" जब रासबिहारी महाराज इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुए और अपने मत में अडिग रहे, तब पूज्यपाद शरत् महाराज पुनः बोले, "तुमने किसी एक दिन के प्रसंग में माँ का कोई कथन सुनकर लिख रखा है, उस विषय में सम्भव है माँ ने किसी दूसरे समय अन्य प्रकार से भी विचार व्यक्त किया हो और वह तुम्हारे खाते में न हो। इससे तो पाठकों के मन में ऐसी धारणा हो जायगी कि तुमने जो लिखा है, वही माँ का दृष्टिकोण है। अतः इन सब बातों को अनुसन्धान और विशेष रूप से विचार-मनन करने के उपरान्त ही सामान्य पाठकों के समक्ष रखना उचित होगा।" इस सम्बन्ध में उन्होंने रासबिहारी महाराज को और भी सावधान करते हुए आगे कहा, तुम तो जानते हो, अमुक अमुक लोग मास्टर महाशय का अपमान करने गये थे। 'वचनामृत' में ठाकुर के द्वारा

एक व्यक्ति की उच्च प्रशंसा पढ़कर वे लोग उसके पास सत्संग करने आया-जाया करते थे। पर कुछ दिन बाद उन लोगों ने देखा कि वह व्यक्ति तो निम्न चरित्र का है। इससे वे बड़े दुःखित हुए। उन्हों ने इसके लिए मास्टर महाशय को ही दोषी माना और रोष में आ उनका अपमान किया।" रासबिहारी महाराज स्वयं उन सब घटनाओं को अच्छी तरह जानते थे, अतः उन्होंने पूज्यपाद शरत महाराज की बात का पूरा पूरा समर्थन किया। उन्होंने उस व्यक्ति के पतन पर दुःख भी प्रकट किया, पर दूसरे ही क्षण वे यह भी कह उठे कि भले ही उस व्यक्ति का अधःपतन हुआ था, पर यह भी सही था कि वे समय समय पर गहरे भाव में डूब जाते थे और यह क्रम उनके जीवन के अन्त तक चलता रहा तथा कइयों ने इसे अपनी आँखों से देखा था। अब तो पूज्यपाद शरत् महाराज के धैर्य का बाँध मानो फूट गया और वे बोल उठे, "तुम लोग क्या यह सोचते हो कि भावसमाधि का होना कोई बड़ी चीज है ? यदि साधु में चरित्र-बल, त्याग, तपस्या, विश्वास और भक्ति की दृढ़ता न हो, तो उसमें साधुत्व कहाँ रहा ?" और ऐसा कहकर वे एकदम मौन हो गये। वहाँ उपस्थित सभी लोग स्तब्ध रह गये। हम लोगों के भीतर की अन्धकारभरी गुफा में आध्यात्मिक राज्य का एक नया प्रकाश देती हुई मानों एक बिजली कौंध गयी !

श्री माँ के चरणों में कुछ दिन के लिए भी रहने

का जिन्हें सौभाग्य मिला है, उन सबने यह हृदयंगम किया होगा कि माँ अपनी सन्तानों को चरित्र गठन के लिए चरित्र-बल, त्याग, संयम, भगवद्‌भजन और सभी अवस्था में ईश्वर में अडिग विश्वास, निष्ठा-भक्ति एवं निर्भरता की शिक्षा देती थीं। न तो उनके अपने जीवन में, न ही उनकी सन्तानों के जीवन में भावावेश या भावुकता का आडम्बर कभी देखा गया। सभी सौम्य, शान्त, धीर और स्थिर थे।

(समाप्त)

रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह का रविवार, २४ जनवरी १९८२ को उदघाटन करते हुए पण्डित उपाध्यायजी ने मुख्य अतिथि के पद से 'भारत का वर्तमान संकट और रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा' इस विषय पर बड़ा ही मार्मिक और उद्‌बोधक व्याख्यान दिया था। वही प्रस्तुत लेख में प्रकाशित किया जा रहा है। —स०)

मेरा यह सौभाग्य रहा है कि पिछले कई वर्षों से श्री विवेकानन्द जी की जयन्ती के पावन प्रसंग में आदरणीय स्वामीजी महाराज मेरा स्मरण करते हैं, और यहाँ रामकथा के माध्यम से कुछ शब्द-सुमन भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के चरणों में अर्पित किये जाते हैं। पर इस वर्ष जब स्वामीजी महाराज ने यह आदेश दिया कि मुझे रामकथा के पहले एक दिन श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्दजी की भावधारा और वर्तमान युगसन्दर्भ पर कुछ कहना है, तो मैंने वैसे बड़े संकोच का अनुभव किया, क्योंकि वस्तुत: इस विषय के अधिकारिक प्रवक्ता तो आदरणीय स्वामीजी महाराज जैसे सन्त ही हैं, जिन्होंने इस भावधारा के लिए अपना समग्र जीवन अर्पित किया है। तो, इस दृष्टि से मुझे संकोच तो था, पर मुझे 'श्री रामचरितमानस' में ऐसा भी एक संकेत मिला, जहाँ रस की उस परम्परा का भी वर्णन है, जहाँ हम अपने

प्रिय के विषय में दूसरों से भी कुछ सुनना चाहते हैं। यह संकेत महर्षि याज्ञवल्क्य और महर्षि भरद्वाज के संवाद में मिलता है। रामकथा में भरद्वाज की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वे 'मानस' में बार बार आते हैं। और यद्यपि महर्षि याज्ञवल्क्य की भूमिका उस प्रकार की नहीं दिखायी देती, तथापि रामकथा के प्रारम्भ में जब भरद्वाज मुनि महर्षि याज्ञवल्क्य के मुख से रामकथा सुनते हैं, तो वह वस्तुतः अपने प्रिय, अपने आराध्य के सम्बन्ध में दूसरों की भावना को सुनकर रसग्रहण करने का ही परिचायक है।

श्रीरामकृष्णदेव के सन्दर्भ में कई बार मुझसे लोगों ने पूछा कि क्या आप उन्हें अवतार के रूप में स्वीकार करते हैं? क्योंकि, कुछ लोगों के मस्तिष्क में ऐसी धारणा है कि अवतारों की संख्या सुनिश्चित है। वे उन दस या चोबीस अवतारों को ही मान्यता देते हैं, जिनका पुराणों में वर्णन किया गया है। ऐसी स्थिति में उनके मतानुसार, भगवान् रामकृष्णदेव एक महान् सन्त ही हो सकते हैं, अतः क्या उन्हें अवतार के रूप में स्वीकार करना शास्त्रीय दृष्टि से उपयुक्त होगा? इस सन्दर्भ में मैं उन्हें 'श्रीमद्भागवत' के एक श्लोक का स्मरण दिलाता हूं, जहां पर अवतारों का वर्णन करते हुए दस या चोबीस अवतारों की बात तो कही गयी है, पर उसके साथ ही भगवान् व्यास ने एक वाक्य भी कह दिया है कि—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः १/३/२६

--'भगवान् के अगणित अवतार होते हैं।' और इस सूत्र के माध्यम से यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो हमें ऐसा लगेगा कि सचमुच भगवान् श्रीरामकृष्णदेव युग के अवतार हैं। और जब कभी युग के संकट के सन्दर्भ में युगावतार की भूमिका पर मैं विचार करता हूँ, तो बहुधा एक तथ्य की ओर मेरा ध्यान जाता है, और दूसरों का भी ध्यान उस ओर जाता होगा--वह यह कि यद्यपि हमारे देश और हमारी जाति पर बार बार विपत्तियाँ आती रहीं, और विभिन्न रूपों में आती रहीं, फिर भी इस जाति या इस देश में ऐसी जीवनीशक्ति है, जिसके कारण उन आपत्तियों को झेल पाने में हम समर्थ होते हैं और कठिन से कठिन परिस्थितियों से निकलकर हम पुनः प्रकाश में आरूढ़ हो जाते हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन मुख्य रूप से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे जीवन में जो दो विचारधाराएँ गहराई से जुड़ी हुई हैं, हमारे अन्तःकरण की गहराई में विद्यमान हैं, वे ही जीवनीशक्ति के रूप में निरन्तर हमें जीवित रखती हैं और कठिन परिस्थितियों को झेलने की शक्ति देती हैं। उन दो धारणाओं में से एक काल के सन्दर्भ की है, तो दूसरी अवतार के सन्दर्भ की। काल के सत्य और अवतारवाद की धारणा को यदि ध्यान से मिलाकर देखें, तो स्पष्ट दिखायी देगा कि हम जो टूट नहीं जाते, निराश और हताश होकर समाप्त नहीं हो जाते, उसका

एकमात्र कारण यह है कि हमने काल के सत्य को स्वीकार किया है। और काल के सत्य के साथ साथ हमारी यह जो अवतारवाद की धारणा है, वह जीवन में हमें कभी निराश नहीं होने देती, बल्कि हमें आश्वस्त बनाकर रखती है।

कई लोग जब वर्तमान संकट के सन्दर्भ में सोचते हैं, तो उनका स्वर बड़ा निराशावादी हो जाता है। कई बार लोग मुझसे पूछते भी हैं कि इतने धार्मिक सत्संग, प्रवचन और आयोजनों के होते हुए भी, इतनी बड़ी संख्या में उन आयोजनों में लोगों के भाग लेते हुए भी जब लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है, उनमें विकृतियाँ ज्यों की त्यों दिखायी दे रही हैं, तो फिर ऐसे आयोजनों की क्या सार्थकता है? कभी कुछ लोग निराश होकर कहते हैं—नवयुवकों की रुचि धर्म की ओर से हट रही है, यह बड़े दुःख की बात है। इसमें सन्देह नहीं कि ये बातें किसी भी सहृदय व्यक्ति को व्यथित बना देती हैं और हमारा भी ध्यान इनकी ओर जाता है। लेकिन इन्हें हमें एक दूसरी दृष्टि से देखने की चेष्टा करनी चाहिए और साथ ही यह प्रयत्न भी करना चाहिए कि हमारे जीवन में निराशा का कोई स्थान न हो। जब एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि इतने आयोजनों की क्या सार्थकता है, तो मैंने कहा कि वर्षा ऋतु में कितने छाते बाजार में बिक जाते हैं, तो क्या छातों के बिक जाने से या लोगों के पास छाते हो जाने

से वर्षा का होना बन्द हो जाता है? ऐसा तो नहीं होता कि लाखों छाते बन जायें, तो आकाश से पानी का बरसना ही बन्द हो जाय। पानी का बरसना तो प्रकृति का एक स्वभाव है। और छाता वर्षा को भले ही न रोक सकता हो, पर वर्षा से हमारी रक्षा तो कर ही देता है। जब तक उसे हमारे अपने सिर पर लगाये रखते हैं, तब तक हमारा शरीर और वस्त्र उसके द्वारा सुरक्षित रहता है। प्रकृति में परिवर्तन अनिवार्य है—कभी वर्षा होती है, कभी धूप आती है, तो कभी शीत पड़ती है। इस परिवर्तन को हम चाहकर भी नकार नहीं सकते। यदि हम चाहें कि एक ही जैसी ऋतु बनी रहे, तो यह सम्भव नहीं। अतः जैसे हम इन ऋतुओं को जीवन में झेल लेते हैं और इनसे बचने के लिए मार्ग सोचते हैं, ठीक इसी प्रकार से हिन्दू दर्शन में जो कालसत्य की बात कही गयी है, काल के परिवर्तित होने वाले चक्र की ओर जो संकेत किया गया है, उस पर यदि हम दृष्टि रखें, तो हमें बहुत निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

एक बार मुझसे एक सज्जन ने कहा—कथा में नवजवान कम दिखायी देते हैं यहाँ पर तो नवयुवक बहुत हैं, पर यह सत्य है कि बहुधा ऐसे कार्यक्रमों में नवयुवक कम दिखायी देते हैं। मैं विनोद में कभी कभी एक बात कहता हूँ, और वह अपने स्थान पर सही भी है। मैं कहता हूँ—भई कोई नयी बात तो नहीं है। 'रामचरितमानस' में भी लिखा हुआ है कि काकभुशुण्डिजी जब

कथा कहते थे, तो सुनने के लिए बहुत से पक्षी आते थे—

> सुनहिं सकल मति बिमल मराला।
> बसहिं निरन्तर जे तेहिं ताला ॥ ७/५६/६

—'सब निर्मल बुद्धि वाले हंस, जो सदा उस तालाब पर बसते थे।' उसे सुनते थे 'पर इसी के साथ गोस्वामीजी ने यह भी लिखा कि जब गरुड़जी कथा सुनने के लिए काकभुशुण्डिजी के पास पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि—

> बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए।
> सुनै राम के चरित सुहाए ॥ ७/६२/४

—'वहाँ श्रीरामजी के सुन्दर चरित्र सुनने के लिए बूढ़े बूढ़े पक्षी आये हुए हैं।' वास्तव में बूढ़े लोग परिपक्व हो जाते हैं और उनमें कथा के ग्रहण करने की उन्मुखता अधिक होती है। अतः कथा में उनका आधिक्य संख्या में होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। फिर इसमें निराश होने की कोई बात नहीं, क्योंकि आज जो जवान हैं, वे ही कल बूढ़े भी तो होंगे। यदि वे आज नहीं आते हैं तो कोई बात नहीं, कल आने लगेंगे। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि हम निराश हो जायँ कि हमारा सब कुछ खोया चला जा रहा है। तात्पर्य यह कि हमने कालकृत सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम इस कालकृत सत्य को स्वीकार कर निष्क्रिय बन जायें। जैसे वर्षा को स्वीकार करने का अभिप्राय वर्षा में भीगना नहीं है, गर्मी को स्वीकार करने का अर्थ लू के थपेड़ों में अपने को विनष्ट कर देना

नहीं हैं। इसी प्रकार जब हम काल के इस चक्र पर दृष्टि रखते हैं और ऐसा समझते हैं कि ऐसा परिवर्तन विश्व के इतिहास में होता ही रहता है, मनःस्थिति में, परिस्थिति में बदलाव आता ही रहता है, तब ऐसा समझकर हमें चुप नहीं बैठना है, अपितु समाज में दिखायी देनेवाली प्रतिकूलताओं के निराकरण के लिए उपाय करना है। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना है कि हमारे अन्तःकरण में निराशा न उत्पन्न हो, क्योंकि ऐसी निराशा व्यक्ति को, समाज को विनष्ट कर देती है। 'महाभारत' में हमें यही सत्य देखने को मिलता है। वहाँ भगवान् कृष्ण की दो भूमिकाएँ दिखायी देती हैं। एक ओर तो वे युद्ध को रोकने की चेष्टा करते है,और दूसरी ओर अर्जुन का रथ हाँकते हैं। एक भूमिका में वे युद्ध के रूप में काल के सत्य को स्वीकार करते हैं और दूसरी भूमिका में युद्ध को रोकने की उनकी जो चेष्टा है, वह मनुष्य के कर्त्तव्य की ओर सूचित करनेवाली वृत्ति है कि व्यक्ति को किस प्रकार उन परिस्थितियों से संघर्ष करने के लिए तैयार रहना चाहिए, जो हमारे समक्ष प्रतिकूलता की सृष्टि करती हैं। इस सन्दर्भ में जो धारणा हमें अत्यधिक बल देती है, वह है अवतारवाद की धारणा। हम यह मानते हैं कि परिस्थितियों के निराकरण में, इन समस्याओं के दूर करने में हम अकेले नहीं हैं। इस सृष्टि का निर्माता जो ईश्वर है, वह हमारा निर्माण करके हमें समस्याओं से जूझने के लिए बिलकुल अधर

में नहीं छोड़ देता है। वह समस्याओं से लड़ने की शक्ति तो हमें देता ही है, बुद्धि तो हमें देता ही है, पर उसके साथ ही साथ वह स्वयं प्रत्येक युग में बार बार अवतरित होता है और अपने चरित्र के द्वारा समाज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अवतारवाद की धारणा का अभिप्राय यह है कि ईश्वर हमारी इस धरती पर, हम लोगों के बीच एक व्यक्ति के रूप में जन्म लेता है और हमारी समस्याओं को हमारी दृष्टि से देखता है तथा हमारी पद्धति से उनका समाधान देने की चेष्टा करता है। हमारी इस अवतारवाद की धारणा में मात्र कुछ ही अवतार नहीं होते, बल्कि युग में युगप्रयोजन साधित करने के लिए ईश्वर का अवतरण होता रहता है। हर युग की कुछ अलग अलग समस्याएँ होती हैं, अतः उन समस्याओं का समाधान भी भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया दिखायी देता है। यदि हम अवतारों की परम्परा पर दृष्टि डालें, तो हम देखेंगे कि किस प्रकार विभिन्न अवतारों ने तत्कालीन समस्याओं के सन्दर्भ में समयानुकूल अलग अलग समाधान दिये हैं। यदि भगवान् राम ने त्रेतायुग की कुछ विशिष्ट समस्याओं का समाधान अपने जीवन के माध्यम से दिया, तो भगवान् कृष्ण ने द्वापर युग की समस्याओं का, और हमारे इस युग की समस्याओं का समाधान अपने जीवन के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए ईश्वर ने भगवान्

श्रीरामकृष्णदेव के रूप में अवतार ग्रहण किया है।

हम सत्ययुग में हुए ईश्वर के अवतारों की बात पुराणों में पढ़ते हैं। प्रसिद्ध गाथा आती है कि हिरण्याक्ष पृथ्वी को चुरा लेता है। तब भगवान् वाराह के रूप में अवतार ले हिरण्याक्ष का वध करते हैं और पृथ्वी का उद्धार करते हैं। हिरण्यकशिपु जब संसार पर अत्याचार करने लगता है और प्रह्लाद के वध के लिए प्रस्तुत होता है, तब भगवान् नृसिंह के रूप में अवतरित हो हिरण्यकशिपु का वध कर प्रह्लाद की रक्षा करते हैं। त्रेतायुग में श्रीराम के रूप में आकर रावण और कुम्भकर्ण आदि का वध करते हैं। उसी प्रकार द्वापर युग में श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हो शिशुपाल,दन्तवक्र और कंस आदि के वध में उनकी भूमिका दिखायी देती है। इन अवतारों में एक विशेष बात यह दिखती है कि वे सभी के सभी शस्त्रसन्नद्ध थे, जबकि इस युग के अवतार भगवान् श्री रामकृष्ण देव के हाथमें कोई शस्त्र नहीं दिखायी देता। इसका कारण यह हैं कि इस युग में और बीते हुए युगों में एक विशेष अन्तर है और उस अन्तर को दृष्टिगत करके अवतारों की भूमिका में अन्तर आ जाता है। वह अन्तर यह है कि सत्य त्रेता अथवा द्वापर युगों की जो समस्या है, उसमें व्यक्ति प्रमुख है। इसका अभिप्राय यह है कि तब ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों ने जन्म लिया, जिनमें अपार क्षमता थी और जिन्होंने अपनी इस क्षमता का दुरुपयोग करते हुए सारी

सृष्टि को अन्याय और अत्याचार से संत्रस्त कर पाप की दिशा में प्रेरित किया। तो, जहाँ समस्याएँ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, वहाँ उनका समाधान देने के लिए ईश्वर को अपने अवतार में शस्त्र स्वीकार करना पड़ता है, जिससे उन अत्याचारियों का दामन किया जा सके। पर आज की समस्या व्यक्तिपरक नहीं है, इसीलिए हमारे युगावतार को शस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह तो वैसा ही है, जैसे शरीर के किसी अंग में हुए रोग की चिकित्सा करना। यदि यह रोग ओषधि से दूर हो सकता है, तो ओषधि के द्वारा उसकी चिकित्सा की जाती है, पर यदि वह इतना विकृत हो जाए कि वह सारे शरीर को ही विनष्ट करने का कारण बन जाय तब तो एक शल्य-चिकित्सक, एक चतुर डाक्टर उस रुग्ण अंग को काट-कर फेंकने में संकोच का अनुभव नहीं करेगा। तो, पूर्व युगों में समस्याओं को उत्पन्न करनेवाले दुष्ट और अत्याचारी दैत्य इतने शक्तिशाली थे कि उनका वध करने के लिए भगवान् को अवतरित होना पड़ा और अपने हाथ में शस्त्र स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने शस्त्र के द्वारा दुष्टों का उच्छेद कर समाज में सुख-शान्ति का संचार किया। लेकिन हमारे युग की समस्या व्यक्ति-परक नहीं है। आज आपको रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद हिरण्यकशिपु या हिरण्याक्ष के समान कोई शक्तिशाली व्यक्ति ब्रह्माण्ड में नहीं मिलेगा, जो विश्व में लोगों को

पाप की दिशा में प्रेरित कर रहा हो, अथवा अन्याय कर रहा हो, या सब पर शासन कर रहा हो, अथवा जिसने प्रकृति को पूरी तरह से अपने अधीन कर लिया हो। इस युग की समस्या वह नहीं है। लेकिन इसका अर्थ क्या यह है कि आज की समस्या पूर्वापेक्षा सरल है? मुझे एक घटना का स्मरण आता है। हिन्दू विश्व-विद्यालय में प्रवचन चल रहे थे। वर्णन आया कि तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' में रावण और कुम्भकर्ण के तीन जन्मों का वर्णन किया है—सत्ययुग में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के रूप में, त्रेतायुग में रावण और कुम्भकर्ण के रूप में तथा द्वापर में शिशु-पाल और दन्तवक्र के रूप में। और युग हैं चार—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। इस पर एक ने कहा कि तब तो पहले के तीनों युग बुरे थे और हमारा युग सबसे अच्छा है, क्योंकि इसमें रावण और कुम्भकर्ण का जन्म नहीं होता, नहीं तो रावण के चौथे जन्म की गाथा भी तो लिख दी गयी होती? तब मैंने कहा—नहीं भई, बात यह है कि अन्य युगों में रावण और कुम्भकर्ण तो एक एक व्यक्ति के रूप में आये, इसलिए उनका नाम लिख दिया गया, पर इस युग में तो वे दोनों इतने रूपों में आ गये हैं कि किस-किसका नाम लिखें कि कौन रावण है और कौन कुम्भकर्ण? इसका अभिप्राय यह है कि हमारे युग की समस्या उस प्रकार व्यक्तिपरक नहीं है, बल्कि वह तो हमारे अन्तःकरण

में रहनेवाली दुर्वृत्तियों और दुर्विचारों की समस्या है, और यह पूर्व युगों की समस्याओं से कहीं अधिक जटिल और कठिन है। ऐसा क्यों?

जब हम दुर्वृत्तियों और दुर्विचारों के विरुद्ध संग्राम करने जाते हैं, तो हमारे समक्ष दो संकट उपस्थित होते हैं। पहला संकट तो धर्म और अधर्म का झगड़ा है, जो हमारे सामने कोई अस्वाभाविकता उपस्थित नहीं करता। पर दूसरा संकट है-धर्म का धर्म से ही झगड़ा, धर्मों की परस्पर टकराहट और यह समाज में बड़ी कठिनाई पैदा कर देता है। इसे यों कहें कि सामनेवाला व्यक्ति हमें ठोकर लगा दे, तो यह तो होता ही रहता है, लेकिन ऐसा भी तो होता है कि कभी कभी हमारा एक पैर दूसरे पैर को ठोकर मार देता है। धर्म के विरुद्ध अधर्म के संघर्ष के सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण 'गीता' में कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ४/७-८

—'हे अर्जुन, जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है, तब तब मैं अपने को अवतरित करता हूं। साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग युग में अवतीर्ण होता हूं।' यह तो हुई अधर्म के विनाश की

प्रतिज्ञा । पर जब स्वयं धर्म ही धर्म से टकराने लगता है। जब विभिन्न धर्म आपस में टकराने लगते हैं और जब कभी कभी एक ही धर्म परस्पर टकराहट उत्पन्न करने लगता है, तब उसका भी तो समाधान किया जाना चाहिए । और आप देखेंगे, भगवान् श्रीरामकृष्णदेव तथा स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के द्वारा इन दोनों प्रकार के संकटों का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

मुझे स्मरण आता है, यहाँ रामायण-प्रवचन चल रहा था और यहीं कहीं पास में माइक पर रामायण का अखण्ड पाठ होने लगा । अब यह क्या ? ऐसा तो नहीं था कि वहाँ अश्लील गाने बज रहे थे । पर उसने प्रवचन में बाधा तो अवश्य खड़ी कर दी । इसका अभिप्राय यह है कि कभी कभी ऐसी भी परिस्थिति आ जाती है, जब धर्म धर्म में टकराहट-सी प्रतीत होने लगती है, धर्म का एक अंग दूसरे अंग को काटने लगता है। फिर इसी प्रकार अन्य धर्मों के सन्दर्भ में भी यह टकराहट दिखायी देती है। तो, यह जो धर्म की धर्म के विरुद्ध और धर्म की अधर्म के विरुद्ध टकराहट की द्विविध समस्या है, उसके समाधान के लिए जिस वैचारिक क्रान्ति की, जिस मार्गदर्शन की अपेक्षा थी, भगवान् रामकृष्णदेव ने इस युग में अवतरित हो वह प्रदान किया । वे शस्त्रधारी नहीं थे, दुष्टों को दण्ड देने के लिए नहीं आये थे, वे तो हमारे अन्तःकरण के दुर्गुण-दुर्विचारों और पाप को विनष्ट करने के लिए आये थे । और इसके साथ ही जो

धर्म की धर्म से टकराहट है, उससे हमें उबारने के लिए आये थे। यह धर्म से धर्म की टकराहट बड़ी सूक्ष्म होती है उसका निराकरण बड़ा कठिन होता है; क्योंकि धर्म और अधर्म के युद्ध में तो व्यक्ति से यह कहा जा सकता है कि तुम अधर्म का साथ छोड़ दो, लेकिन जहाँ पर व्यक्ति को यह प्रतीत हो रहा हो कि मैं तो धर्म में स्थित हूँ और ऐसा मानते हुए भी यदि वह बुराई को स्वीकार करे, तो वह बुराई को बुराई के रूप में नहीं बल्कि अच्छाई के रूप में स्वीकार करता है। इससे बुराई का निराकरण अत्यन्त कठिन हो जाता है। आप लोगों ने परमहंसदेवजी की जीवनी में पढ़ा होगा कि उनके जीवन में समस्त धर्मों की साधना हुई थी और उसके द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट घोषित किया था कि ये सारे धर्म अलग अलग मार्गों से, अलग अलग साधना-पद्धतियों से वस्तुत एक ही सत्य की प्राप्ति कराते हैं। लक्ष्य की भिन्नता न होने पर भी व्यक्ति जहाँ पर स्थित है, वहाँ से उस लक्ष्य पर जाने का रास्ता भिन्न हो सकता है। कोई व्यक्ति मन में बैठा हुआ है, तो कोई बुद्धि में, कोई चित्त में, तो कोई अहंकार में। इस प्रकार अनगिनत स्थानों में व्यक्ति अलग अलग बैठे हुए हैं, अतः स्वाभाविक ही सब की साधना-प्रणाली एक-जैसी नहीं हो सकती। जो मन:प्रधान व्यक्ति है, उसे यदि भक्ति प्रधान साधना बतायी जाय, तो वह सही मार्ग से चलकर ईश्वर पा को ले सकेगा। पर मन में स्थित व्यक्ति से यदि केवल विचार

की बात कही जाय, तो वह कभी विचार के मार्ग से कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। जो बुद्धि में स्थित है उसके लिए ज्ञान का मार्ग है। जो चित्त में स्थित है, उकेस लिए योग का रास्ता है, और जो अहंकार में स्थित है उसके लिए धर्म का पथ है। धर्म क्या है ? वह है व्यक्ति के द्वारा अपने अहंकार का सदुपयोग। हम अपने जीवन में यदि धार्मिक होने की श्रेष्ठता को स्वीकार करेंगे, तो तदनुरूप आचरण करने को भी बाध्य होंगे। इस प्रकार इस मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के उपयोग के अलग अलग मार्ग हैं और ये विभिन्न मार्ग किसी न किसी केन्द्र के माध्यम से व्यक्ति को आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं, इसलिए वस्तुतः इनमें परस्पर टकराहट की कोई गुंजाइश नहीं है। परमहंसदेव अपने जीवन के माध्यम से यही प्रदर्शित करते हैं।

मैं जब परमहंसदेव जी की जीवनी पढ़ता हूँ, तो रामायण का चश्मा लगाकर ही पढ़ता हूँ, क्योंकि मेरे पास वही चश्मा है और मैं जो कुछ देखता हूँ सब रामायण की रंगीनी में ही देखता हूँ। परमहंसदेवजी की जीवनी में मुझे कहीं भगवान् राम की भूमिका दिखायी देती है, तो कहीं श्री भरत की, और कहीं तो हनुमान्जी की। अभी कुछ दिन पहले मैं परमहंसदेव जी के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ पढ़ रहा था। उसमें लिखा है कि सचमुच एक भक्त ने परमहंसदेवजी के दर्शन किये, तो उसने एक विचित्र मनःस्थिति में उन्हें देखा।

भक्त ने उस मनःस्थिति का वर्णन करते हुए जो लिखा है, वह वैसे तो बड़ा अटपटा मालूम होता है, पर जब मैं तुलसीदास जी के पद पर ध्यान देता हूँ, तो लगता है कि सचमुच उस भक्त के मन में सही बात आयी। भक्त ने लिखा है कि जब उसने पहली बार परमहंसदेव जी के दर्शन किये, तो उसे लगा कि जैसे कोई मछली फँसानेवाला बँसी में चारा लगाकर उसे जल में डाल नदी के किनारे बैठ जाता है और उस समय जिस प्रकार उसकी दृष्टि रहती है, मानो परमहंसदेव भी उसी प्रकार बैठे हुए हैं और उनकी दृष्टि भी उसी प्रकार की है। जब मैंने यह मछली फँसानेवाली बात पढ़ी, तो मुझे 'विनय पत्रिका' की याद हो आयी। वहाँ एक पद में (क्र. १०२) गोस्वामीजी भगवान् श्रीराम से उसी मुद्रा में आने की प्रार्थना करते हैं, जिसमें उक्त भक्त ने भगवान् श्रीरामकृष्णदेव को बैठे हुए देखा था। उस पद में गोस्वामीजी पहले भगवान् राम के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। कहते हैं—

हरि ! तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध-दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों ॥

—प्रभो, आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है, जो आपने साधना का धाम यह शरीर मुझे प्रदान किया है। इस पर भगवान् ने हँसकर पूछ दिया—तो क्या तुम मेरा ऋण चुकाने के लिए आये हो ? तुलसीदासजी उत्तर में बोले—महाराज, ऋण अगर थोड़ा रहे, तो

चुकाने की चिन्ता रहती है, लेकिन वह यदि इत
अधिक हो जाय कि वह व्यक्ति के चुकाने की सीमा
बाहर हो जाय, तब तो व्यक्ति के मन में आता है कि अ
दिवालिया तो होना ही है, सो अब लेते ही जाना ठीक है
गोस्वामीजी कहते रहे—अगर आपने थोड़ा कम दिय
होता, तो मैं बदला चुकाने की सोचता भी, लेकिन आप
तो इतना दे दिया है कि अब उसका बदला मैं चुका नह
पाऊँगा। प्रभु ने पूछा—जब तुम बदला चुका नहीं सकते
तब फिर से आये क्यों? इस पर तुलसीदासजी तुरन्
बोले—

> कोटिहुं मुख कहि जात न प्रभु के एक एक उपकार
> तदपि नाथ कछु और माँगिहौं...

—महाराज, आपसे कुछ और माँगने आया हूँ—'दीजै'!

पुराना तो चुकाया नहीं और फिर से माँगने च
आये!—प्रभु ने कटाक्ष किया।

गोस्वामीजी बोले—आप कोई कृपण थोड़े ही ह
आप तो उदार हैं—यही नहीं, आप तो परम उदार है
इसीलिए तो कह रहा हूँ—'दीजै परम उदार!' आ
मेरी यह माँग स्वीकार कीजिए।

और सचमुच तब गोस्वामीजी ने जो माँग की ह
उक्त भक्त द्वारा परमहंसदेवजी के सन्दर्भ में उसी क
उल्लेख पढ़कर मुझे बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ। मैंने ज
इस पद को पहली बार 'विनयपत्रिका' में पढ़ा था, त
बड़ा अटपटा लगा था। वैसे यह कल्पना तो की गयी

कि राक्षस हाथी की तरह हैं और भगवान् सिंह की तरह उनका मर्दन करते हैं। ऐसी कल्पना काव्य में वीरता के सन्दर्भ में की जाती है। लेकिन मछली मारनेवाली बात कोई ऐसी नहीं है, जिसे किसी व्यक्ति की वीरता को सूचित करने के लिए कहा जाय कि ये तो मछली मारने की कला में बड़े निपुण हैं! पर उस पद में तुलसीदासजी ने भगवान् से अन्त में यही कहा है कि महाराज, आप मछली का शिकार कीजिए! पहले तो मैं नहीं समझ सका था कि वैसा कहने में गोस्वामीजी का तात्पर्य क्या है, पर जब मैं परमहंसदेवजी पर वह ग्रन्थ पढ़ रहा था, तब अचानक 'विनयपत्रिका' का यह पद स्मरण हो आया। साथ ही एक घटना भी स्मृति में आ गयी। मैं आजमगढ़ में बैठा हुआ था। दो-चार सत्संगी भी साथ थे, वे आपस में सत्संग कर रहे थे। वहीं पर बगल में एक व्यक्ति हाथ में बंसी लिये मछली पकड़ रहा था। इतनी देर तक सत्संग हुआ, लेकिन उसके कान में एक शब्द नहीं गया। उसकी समूची दृष्टि हर क्षण धागे की ओर थी कि वह जरा सा हिले तो पकड़कर उठा लूं। बस, अचानक मैं समझ गया कि तुलसीदासजी क्या कहना चाहते थे। अभी तक तो शास्त्रों में यह कहा गया कि मन को एकाग्र करो और उसे भगवान् में लगाओ, लेकिन यह जो मछली के शिकार की बात कही गयी, उसका अर्थ क्या? मछली के शिकार में एक विचित्रता है। जब मछली को जाल डालकर फंसाया जाता है,

तब उतनी एकाग्रता की जरूरत नहीं होती, वहाँ तो समेटनेवाली बात होती है। लेकिन जब उसको बंसी में फँसाया जाता है, तब फँसानेवाला एकदम एकाग्र हो जाता है। इसीलिए तुलसीदास जी भगवान् से कहते हैं कि महाराज, मैं तो एकाग्र नहीं हो पाऊँगा, मेरा मन तो मछली की तरह है, लेकिन आप ही जरा मछली के शिकारी की तरह एकाग्र हो जाइए और मेरे मन को फँसाने की चेष्टा कीजिए--

बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥

--मेरा मनरूपी मीन विषयरूपी जल से एक पल के लिए भी अलग नहीं होता, इससे मैं अत्यन्त दारुण दुःख सह रहा हूँ--बार बार अनेक योनियों में मुझे जन्म लेना पड़ता है।

प्रभु ने पूछा--तो क्या चाहते हो? गोस्वामी जी बोले-

कृपा-डोरि बंसी पद अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥

--बस महाराज, आप मेरे मन। मत्स्य को अपनी कृपा की डोर में प्रेम के चारे से इस प्रकार फँसा लीजिए कि यह आपके चरणों से अलग न हो!' और सचमुच परमहंसदेवजी का वह जो चित्र उस भक्त द्वारा आँका गया है, वह भावभूमि जिसमें उनकी स्थिति चित्रित की गयी है, भक्तों को दूर दूर से अपने पास खींचकर ईश्वर में लगाने की उनकी जो अपार करुणा

और दयालुता है, वह 'विनयपत्रिका' और 'रामायण' के सन्दर्भ में भगवान् राम की करुणा और दया का स्मरण दिलाती है।

इसी प्रकार जब मैं उनके द्वारा विविध मार्गों के समन्वय की बात पढ़ता हूं, तो मुझे श्रीभरत की भूमिका की बात याद आती है। श्री भरत पूरे अयोध्यावासियों को श्रीराम के दर्शन के लिए चित्रकूट ले जा रहे हैं। यह चित्रकूट आध्यात्मिक भाषा में चित्त की भूमि है- 'राम कथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु'-मानो चित्त की भूमि में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। गोस्वामी जी संकेत देते हैं कि अयोध्या के जितने नागरिक है, श्री भरत उन सबके लिए अलग अलग वाहन की व्यवस्था करते हैं—कुछ के लिए रथ की, तो कुछ के लिए घोड़ों की, फिर अन्य दूसरों के लिए पालकी की। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अलग अलग वाहन पर सवार होकर जा रहा है, तथापि सबका लक्ष्य एक ही है, और वह है चित्रकूट। यह मेरी दृष्टि में सर्वधर्मसमवन्य का सूत्र है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति उस एक ही ईश्वर तक पहुंचेगा, पर इस आग्रह की आवश्यकता नहीं कि हर व्यक्ति एक ही माध्यमं से ईश्वर को प्राप्त करने की चेष्टा करे। इस प्रकार श्री भरत लोगों को अलग-अलग माध्यम से चित्रकूट ले जाते हैं और उन सबका प्रभु से मिलन करा देते हैं। इसीलिए मैंने कहा कि परमहंस

देवजी के जीवन में जो विविध धर्मों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार है, अनुभूति है, वह श्रीभरत की भूमिका के रूप में दिखायी देती है।

फिर मैं यह भी पढ़ता हूं कि परमहंसदेवजी बार बार भावसमाधि में निमग्न हो जाते थे, पर उससे उन्हें उतनी प्रसन्नता नहीं होती थी। अन्य व्यक्ति तो भाव-समाधि के लिए व्यग्र रहता है, लेकिन वे तो भावसमाधि के लगने की स्थिति में आद्याशक्ति से रो-रोकर प्रार्थना करते थे कि माँ, तू मुझे मूर्छित मत कर, क्योंकि मैं तो इन जीवों से बातचीत करना चाहता हूं, इन भक्तों से वार्तालाप करना चाहता हूं, जिससे वे सब तेरे निकट आ सकें। यदि मैं स्वयं समाधि में डूब जाऊंगा, तो उनसे वार्तालाप कौन करेगा? परमहंसदेवजी की यह प्रार्थना समाधि के उस दिव्य सुख को भी छोड़ने की प्रार्थना है, जिसको पाने के लिए साधक जन्म-जन्मान्तर से प्रयत्न करते रहते हैं। वह तो दिव्य मौन की अवस्था है, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है– 'डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।' कबीरदास ने भी कह दिया–

मन मगन भया तो क्यों बोलै।
हंसा पाया मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोलै॥
हीरा पाया गाँठ गठियाया बार बार फिर क्यों खोलै॥
मन मगन भया तो क्यों बोलै॥

इन पदों में यह वर्णित हुआ है कि जहाँ पर पूर्ण उपलब्धि है, वहाँ पर मौन है। पर ऐसी उपलब्धि से साधक भले ही स्वंय आत्मानन्द में डूब जाता

हो, किन्तु अन्य व्यक्ति तो उस सुख से वंचित रह जाते हैं। परमहंसदेवजी दूसरों के सुख के लिए उस उच्चतम भूमि का त्याग कर नीचे वार्तालाप की भूमि में उतरते हैं। यह समाधि-सुख में डूबने की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट अवस्था है। जब मैं परमहंसदेवजी की आद्याशक्ति से की गयी वह प्रार्थना पढ़ता हूं, तो मुझे श्री हनुमान्‌जी की भूमिका की याद आती है। जब बन्दर श्रीसीताजी की खोज में लंका की ओर चले जा रहे थे, तो वे वन में भटक गये और प्यास के मारे उनका बुरा हाल हो गया। तब हनुमान्‌जी ने उन बन्दरों से कहा—यह जो सामने पर्वत का शिखर है, शायद उसके ऊपर जल हो; आओ, हम लोग वहाँ जल खोजने की चेष्टा करें। पर बन्दर इतने थके हुए थे कि ऊपर चढ़ने का साहस नहीं कर सके। तब हनुमान्‌जी स्वयं ऊपर चढ़ गये और वहाँ उन्होंने एक गुफा देखी, जिसमें जल के पक्षी भीतर जा रहे थे। वहाँ तुलसीदासजी एक बढ़िया संकेत देते हैं। हनुमान्‌जी चाहते तो ऊपर से ही बन्दरों को बुला सकते थे कि आओ, ऊपर आ जाओ। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। गोस्वामीजी लिखते हैं।—

गिरि ते उतरि पवनसुत आवा।
सब कहुं लै सोई बिबर देखावा॥ ४/२३/७

हनुमान्‌जी पर्वत से उतरकर नीचे आ गये। यही वह भूमिका है, जहाँ पर सन्त और अवतार अपनी उस दिव्य अवस्था से नीचे उतरकर उस भूमि पर आते

हैं, जिस पर हम और आप खड़े हैं, और वे हमें अपने साथ नीचे से ऊपर ले जाते हैं। हनुमान्‌जी बन्दरों को अपने साथ ऊपर ले जाते हैं और उन्हें दिखाते हैं—वह देखो, वह रहा जल का स्रोत ! पर बन्दर निराश होते हैं, क्योंकि उन्हें बाहर जल का कोई स्त्रोत नहीं दिखायी देता। वहाँ तो सामने केवल गुफा दिखायी दे रही है। तब हनुमान् उन्हें आश्वासन देते हैं कि भले ही जल प्रत्यक्ष दिखायी न दे रहा हो, पर ये जो भीतर जाने वाले जल के पक्षी हैं, ये चक्रवाक, बक और हंस स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि गुफा के भीतर जल है। ये पक्षी मानो सन्त के समान हैं, जो स्वयं प्रभारूपी भगवत्कृपा को प्राप्त करने के लिए सब कुछ छोड़कर गुफा के भीतर पैठ रहे हैं। यह मानो इस तथ्य को सूचित करता है कि भले ही हम जल को प्रत्यक्ष न देख पाते हों, पर जो लोग अपना सब कुछ छोड़ अपनी सारी सुख-सुविधा को छोड़ उस दिव्य स्रोत की खोज में चले जा रहे हैं, वहाँ पर अवश्य ही दिव्य जल भरा हुआ होगा। तभी तो हनुमान् जी उनसे कहते हैं——यहाँ जल अवश्य है। बन्दरों को एक बड़ा आश्चर्य अवश्य हो रहा था। यह एक प्रतीकात्मक संकेत है। वह क्या ? यह कि जितने पक्षी थे, वे भीतर तो जा रहे थे, पर निकलकर एक भी नहीं आ रहा था। बन्दर डरने लगे कि कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि हम लोग भी भीतर जाएं और

बाहर न आ सकें, भीतर ही भीतर रह जाएँ। हनुमान जी बन्दरों का भय भाँप गये। उन्होंने कहा—नहीं, नहीं, कुछ गुफाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें से निकलना अपने मन पर निर्भर करता है। गुफा में इतना दिव्य जल है, इतने दिव्य फल हैं कि यदि कोई भीतर जाने के बाद बाहर न लौटना चाहे, तो उसे लौटने की कोई आवश्कता नहीं। पर जो सिद्धि की अवस्था में पहूँचकर भी दूसरों के कल्याण के लि? साधक की भूमिका स्वीकार करते हैं, वे इस गुफा से बाहर निकलकर नीचे उतरते हैं, जिससे वे दूसरों को भी अपने साथ उस उच्च भूमिका पर उठाकर ले जा सके। हमें परमंहसदेव जी तथा स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन में यही दिखायी देता है। वे अपनी दिव्य भूमिका से उतरकर हमारे धरातल पर आते हैं और हमें ऊपर उठाकर उस दिव्य स्रोत का जल पिलाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार परमहंसदेव जी महाशक्ति के पूंज हैं, ईश्वर के अवतार हैं, वे हमारें युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने के लिए इस रुप में अवतरित होते है। हमारे वर्तमान युग के सन्दर्भ में उनकी साधना, उनकी उपासना एक विशेष महत्त्व रखती है। वे सचमुच ही ईश्वर के अवतार हैं इसमें मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं। पर उनके अवतारत्व की विलक्षणता यह है कि साक्षात् भगवान् होते हुए भी उनके जीवन में सन्त की भूमिका ही प्रमुख रूप से दिखायी देती है और

उस भूमिका के माध्यम से वे साधना के सत्य को हमारे जीवन में प्रकट करते हैं।

और स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? बस इतना ही कह सकते हैं कि जैसे कोई विद्युत-केन्द्र हो और उसमें अपार ऊर्जा भरी हुई हो, लेकिन जब तक उसे तार के द्वारा घर घर में न पहुँचाया जाय, उसे पंखे, लट्टू, रेफ्रीजरेटर या अन्य यंत्रों से न जोड़ा जाय, तब तक विद्युत-शक्ति का लाभ व्यक्ति को नहीं हो पाता है। उस पावरहाउस या विद्युत-केन्द्र से बिजली को ले जाकर, घरों में पहुँचाकर उस विद्युत्-शक्ति की क्षमता के द्वारा जैसे हम अनगिनत लाभ प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार तेजस्विता के मूर्तिमान, रूप, स्वामी विवेकानन्दजी की जब मैं बात करता हुँ, तो मुझे लक्ष्मणजी का स्मरण हो आता है। उनके चरित्र में मुझे लक्ष्मणजी की भूमिका दिखायी देती है। लक्ष्मण तेज के मूर्तिमान रूप हैं। 'रामचरितमानस' में कहा गया है——राम सौन्दर्य के रूप हैं, भरत शील के तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न तेज के——

मंदिर महँ सब राजहि रानीं।
सोभा सील तेज की खानीं॥ १/१८९/७

तो, यहाँ पर जो तेज है, वह दो भागों में बँटा हुआ है——लक्ष्मण और शत्रुघ्न के रूप में। तेज का एक भाग राम के पीछे है, तो दूसरा भरत के। इसका अभिप्राय क्या ? यही कि शील और सौन्दर्य यदि तेजविहीन हैं, तो उसका

परिणाम यह होगा कि शील कायरता का प्रतीक बन जायगा और सौन्दर्य क्लीबता का। इसलिए शील के पीछे जो तेजस्विता चाहिए, वह शत्रुघ्न प्रदान करते हैं और सौन्दर्य के पीछे जो तेज चाहिए, वह लक्ष्मण के रूप में दिखायी देता है। इस बात का तो बहुत उपदेश दिया जाता है कि क्रोध मत करो, लोभ से बचो, लेकिन लक्ष्मणजी समुद्र के किनारे भगवान् राम को क्रोध करने का जो उपदेश देते हैं, वह मुझे स्वामी विवेकानन्दजी महाराज का स्मरण दिलाता है। स्वामीजी महाराज भी क्रियाशीलता में विश्वास रखते थे, वे देश में रजोगुण को उद्‌बुद्ध कर यहाँ की सोयी हुई जनचेतना में तेजस्विता लाना चाहते थे।

उस प्रसंग का स्मरण कीजिए, जहाँ भगवान् राम समुद्र के तीर पर खड़े हो उसे पार करने का उपाय खोज रहे हैं। वे विभीषण से उपाय पूछते हैं, तो विभीषणजी कह देते हैं—अनशन कीजिए। भगवान् अपने स्वभाव और शील के अनुरूप तुरन्त कह उठते हैं—

> सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
> करिअ दैव जौं होई सहाई॥ ५/५०/१

पर यह बात लक्ष्मणजी को पसन्द नहीं आती। उनकी भूमिका वहाँ पर भिन्न है। वे ईश्वर को शान्त रहने का उपदेश नहीं देते, वे तो उसे क्रोध करने का उपदेश देते हैं। यह अनोखी बात है। लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह है कि महाराज, यदि आप जीव का क्रोध मिटाना चाहते

हैं, तो आप स्वयं क्रोध कीजिए। यदि आप शान्त रहिएगा, तो बिचारे जीव को ही क्रोध करना पड़ेगा। तभी तो वे कहते हैं--

नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोषा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥ ५/५०/३ ४

इस प्रकार श्री लक्ष्मण भगवान् राम की तेजस्विता और उनके अनन्त ऐश्वर्य को अपने तेजस्वी व्यक्तित्व के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। वे श्रीराम को लोककल्याण की दिशा में प्रेरित करते हैं, और उनकी तेजस्विता से प्रेरित हो भगवान् श्रीराघवेन्द्र उस भूमिका को स्वीकार करते है, जो लक्ष्मणजी चाहते हैं। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्दजी ने भगवान् रामकृष्ण परमहंस की वैचारिक भूमिका को स्वीकार किया और उसे कृपा के रूप में परिणत कर समाज में अपनी ओजस्विता के द्वारा उसका संचार किया। ऐसी दिव्य भूमिका उन महान् सन्त के द्वारा ही सम्भव थी।

इस प्रकार हम तो यही कहेंगे कि संकट का आना कोई नयी बात नहीं है, वह तो अनगिनत युगों से निरन्तर अनेक रूपों में आता रहा है। कोई ऐसा युग, ऐसा समय नहीं होता, जब व्यक्ति के सामने कोई संकट न हो। पर उस संकट से पार पाने का उपाय वही है, जो भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है। एक ओर तो वे कहते हैं—

अर्जुन, तू लड़, और दूसरी ओर वे उसे यह भी दिखा देते हैं कि मैंने सबको मार दिया है ! अर्जुन को यह बड़ा विचित्र विरोधाभास लगता है। यदि आपने मार दिया है, तो लड़ने की आवश्यकता क्या है ? और लड़ने की यदि आवश्यकता है, तो यह सब 'मार दिया' दिखाने की क्या आवश्यकता है ? इस पर भगवान् कृष्ण अर्जुन से यही पूछते हैं कि ये जो मरे हुए दिखायी दे रहे हैं, ये तुझे अपनी आँख से दिखायी दे रहे हैं या मेरी आँख से ? वास्तव में जब अर्जुन को लोग मरे हुए दिखायी दे रहे थे, तब वह भगवान् की उधार दी हुई आँख से देख रहा था। इसीलिए भगवान् ने उससे कहा—अरे, यह जो तू सबको मरा हुआ देख रहा है, वह तो ईश्वर का सत्य है। पर ईश्वर के सत्य से समाज का काम नहीं चला करता। जीव का सत्य यह है कि वह अभी जीवित है।' मैंने तुझे ईश्वर का सत्य इसलिए दिखलाया, जिससे तेरे मन में यह अहंकार न पैदा हो कि मैं इन्हें नष्ट करूँगा। पर ऐसा सोचकर तू युद्ध करने से विरत भी मत हो, क्योंकि जीव के सत्य की सार्थकता तभी है, जब वह मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध करेगा और इन बुरे व्यक्तियों को नष्ट करने की चेष्टा करेगा। भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश भी तो यही देते हैं—'मामनुस्मर युध्य च'। वे अर्जुन को कर्तृत्व का अभिमान छोड़, निमित्त मात्र बनकर कर्म करने की जो प्रेरणा देते हैं, वह स्वामी

विवेकानन्दजी के जीवन दर्शन में पूरी तरह से ओत-प्रोत है। उन्होंने समाज को मात्र सेवा-भावना का दर्शन ही नहीं दिया, अपितु सेवा-भावना के मूल में 'गीता' के निष्काम कर्म का जो तत्त्वज्ञान है, वह भी उनके द्वारा प्रचारित और प्रसारित किया गया। यदि हमारे जीवन में यह आस्था है कि भगवान् नित्य हैं और हमारी समस्याओं का समाधान करने वे विविध रूपों में अवतरित होते हैं— चाहे श्रीराम के या श्रीकृष्ण के चाहे बुद्ध के या चैतन्य के अथवा चाहे परमहंसदेव जी के,—यदि हमारी यह आस्था है कि हमें जीव की भूमिका के रूप में बुराई के विरुद्ध संघर्ष करना है, यदि हम बिना अहंकार और बिना निराशा के ऐसी आस्था अपने जीवन में ला सकते हैं, तो मेरा विश्वास हैं कि इस आस्था के कारण जाने कितनी परिस्थितियों में से गुजरते हुए हम बचे रहे है, तो आगे चलकर भी यह आस्था, यह प्रकाश, यह शक्ति हमें संकटों से बचाकर हमारी सतत रक्षा करती रहेगी।

प्रभु को करो प्रणाम

"श्री"

(राग प्रभाती : ताल-कहरवा)

प्रेम मगन बन गाओ हे मन
'रामकृष्ण' मधु नाम रे।
'रामकृष्ण' कह, 'रामकृष्ण' कह
निसदिन आठों याम रे॥ ध्रुव॥

परब्रह्म वे नरतनुधारी,
दीनबन्धु भवबन्धनहारी।
सकल मनोरथ पूरणकारी,
रामकृष्ण गुणधाम रे॥१॥

मोहनिशा को दूर हटाने,
दुखियों के सब दुःख मिटाने।
ज्ञान-भक्ति-वैराग्य लुटाने,
आये प्राणाराम रे॥२॥

ज्ञान सूर्य अब प्रगट भया है,
माया का अँधियार गया है।
जागो जागो नवप्रभात में,
प्रभु को करो प्रणाम रे॥३॥

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (९)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बंगला मासिक 'उद्बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्णमठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है।—स.)

स्थान– रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम ,बनारस

३ जुलाई, १९२०

सन्ध्या पाँच बजे का समय है।

बाहर के लोगों के आने पर हरि महाराज अक्सर उनके द्वारा छेड़े गये विषय पर ही चर्चा किया करते हैं। आज दुर्गाचरण बाबू ने राजनीति का विषय छेड़ा। उसी पर चर्चा चलने लगी। इतने में वृद्ध रक्षित महाशय आये। महाराज को प्रणाम कर वे बोले, "आप लोगों के बीच कौनसा प्रसंग चल रहा था ?"

हरि महाराज बोले, "ये देश की राजनीति के बारे में बोल रहे थे।"

धर्मप्रसंग आरम्भ करने के उद्देश्य से रक्षित महाशय बोले, "तो बात पूरी कर लीजिए न ?"

हरि महाराज बोले, "जिसका आरम्भ ही नहीं उसका क्या अन्त होगा ? मनु ने कहा है—

'पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥'

—अर्थात् ये चार वाङ्मय (वाणी सम्बन्धी) पाप हैं—

कटु-वचन, मिथ्याभाषण, निरर्थक बेतुकी बकवास और पेचीदी बातें।

"उपनिषद् में भी कहा है—'अन्या वाचो विमुचथ,' अर्थात् आत्मतत्त्व की चर्चा के अतिरिक्त अन्य सभी बातें छोड़ दो। गोविन्द ! गोविन्द !!"

फिर फल को preserve करने (वैज्ञानिक उपाय से कई दिनों तक टिकाये रखने) की बात निकली। दुर्गाचरण बाबू ने इस सन्दर्भ में कहा, "बड़ा गूलर हलुए की तरह खाया जा सकता हैं।"

हरि महाराज बोले, "माउण्ट आबू में मैंने पहली बार साग-सब्जियों को सुखाकर रखते देखा। उसके बाद जब अन्यान्य पहाड़ों पर घूमने लगा, तब तो यह बहुत देखा। रसोई बनाने के पहले थोड़ासा पानी डाल लेते हैं।"

शहद में डुबोये रखकर फलों को सुरक्षित रखने की बात उठी।

हरि महाराज बोले, "कलकत्ते में देखा, देशी लोग तो maple syrup (खजूर की तरह के एक विलायती वृक्ष का रस जिससे चीनी तैयार होती है) पी रहे हैं और वे (साहब) लोग पूड़ी, कचौड़ी, पुलाव खा रहे हैं, 'सन्देश' खा रहे हैं। यही है आदान-प्रदान।

"अब बात यह है कि वर्तमान समय में हमें किस प्रकार चलना चाहिए। कोई कोई कहते हैं—पंजाब के इस काण्ड (जलियान वाला बाग का हत्याकाण्ड) के

बाद क्या फिर मिलाप होना सम्भव है ? मुख्य बात यह है कि हमें अपने पैरों पर खड़े होना होगा।

(दुर्गाचरण बाबू के प्रति)–"आप अरविन्द घोष के लेख–वेख पढ़ते हैं? वे लोग कहते हैं, धर्म को इन सब बातों के साथ मिला लेना होगा। मैं कहता हूँ, ऐसा भी कभी हो सकता है ? वे कहते हैं, अगर वेद में ये सब बातें न हो तो हम नया वेद बना लेंगे।

"स्वयं को प्रबुद्ध होना होगा। दूसरों के मुँह की ओर ज्यादा ताकने से कैसे चलेगा ? देश में वैसे योग्य आदमी नहीं हैं। समूचे देशभर में एक गांधीजी ही शिव-रात्रि की बाती की तरह टिमटिमा रहे हैं। हमारे देश में अन्न के अभाव के कारण लोग भूखों मर रहे हैं–फिर सुनता हूँ कि छह रूपये सैकड़ा ब्याज पर 'लोन' (कर्ज) निकाल रहे हैं। ब्राह्मणों की साहबों से तुलना करना ठीक नहीं। ब्राह्मणों ने सबके ऊपर अत्याचार किया यह बात तो हमें इन्हीं लोगों ने तरह तरह से सिखायी। असल बात ठीक यह नहीं है। प्रजा ही के लिए तो राजा है प्रजा 'रंजनात् राजा'- प्रजा रंजन करने के लिए है। हमारे तो अब राजा नहीं रहा। इसीलिए नाम दिया है Bureaucracy (नौकरशाही शासन) Reform (शासन–सुधार) में democracy (गणतन्त्र) का नाम तक नहीं है। राजा रहने पर क्या इतना कष्ट होता ? सर ऊँचा किये हुए हैं एकमात्र गांधीजी। Moderate (नरमदलवाले) लोग तो बहुत कुछ

Bureaucracy के ही दल में हैं। तिलक भी ModerateParty वालों की तरह कह रहे हैं –'Cooperation when necessary and opposition where reruired' (जब आवश्यक हो तब सरकार के साथ सहयोग और जहाँ जरूरत पड़े वहाँ विरोध।)

"सभी कुछ तो देखा; अब हम लोगों की एकमात्र गति है education, education (शिक्षा, शिक्षा)! स्वामीजी क्या कह गये हैं? दीख ही तो पड़ रहा है, national lineपरeducation (राष्ट्रीय ढंग पर शिक्षा) चाहिए – उन लोगों की lineपरeducation देने से नहीं होगा डा. पी. सी. राय ने कहा है–देश में काफी बी. ए., बी. एससी. हो गये हैं; और high education (उच्च शिक्षा) देकर क्या लाभ? अब ऐसी शिक्षा दो जिससे लोगों को भर पेट खाने मिले। खाने को दो। केवल 'रुपया–रुपया' करके लोगों की कैसी दुर्दशा हो गयी है।

"पहले देश की स्थिति कैसी सुन्दर थी! गंगा नहाने जाकर पहचान हुई–एक दूसरे के प्रति कितना विश्वास हो गया। अभी तो बाबा, कागज लिख देने पर भी निस्तार नहीं है। सुरेश डाक्टर कह रहे थे–कलकत्ते में कितने ही धोखे बाज–ठगों ने मिलकर संयुक्त कारबार खोला है। वहीखाते में तो सब हिसाब ठीक रखा है, पर भीतर ही भीतर जबरदस्त रुपया खाते हुए अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। यह सब विदेश के बुरे लोगों का अनुकरण है–दूसरा कुछ नहीं। बड़ी मुश्किल है।

विदेशियों के सद्गुणों को हम सीख नहीं पाये, पर दुर्गुणों को झट सीख लिया। देश की दशा शोचनीय है। भले आदमी जन्म नहीं ले रहे हैं।"

दैव पर निर्भर रहकर उपयुक्त नेता की प्रतीक्षा करना उचित है या नहीं इस प्रसंग में दुर्गाचरण बाबू बोले, "भूदेव बाबू कल्कि-अवतार के बारे में कह गये हैं। उस सन्दर्भ में वे कहते हैं, देश को सज्जन व्यक्तियों की आवश्यकता है। एक Voltaire Rousseau (वोल्तेर रूसो) की लिखाई के फलस्वरूप क्या क्या काण्ड हुआ! देशवासियों को जब सुमति होगी और वे इकट्ठे हो सकेंगे, तभी देश में यथार्थ नेता का अविर्भाव होगा। बंकिमबाबू ने भी लिपिकुशलता की बात कही है। किन्तु वैसे लिपिकुशल व्यक्ति जन्म नहीं ले रहे हैं। जिस प्रकार हिमालय के पांच शिखरों में से एक शिखर सबसे ऊंचा है उसी प्रकार के एक शक्तिशाली नेता की जरूरत है।"

हरि महाराज बोले, "ऐसा कहा जा सकता है कि रूस की क्रान्ति के मूल में टालस्टाय की लेखनी ही एक प्रधान कारण है। वे एक बड़े सज्जन पुरुष थे। जिससे साधारण जनता का कल्याण हो, जिससे राज-शक्ति उन्हें दबाकर उनका मनुष्यत्व नष्ट न कर डाले इसके लिए वे विशेष प्रयत्नशील थे। यहाँ तक कि उन्होंने स्वयं सर्वस्व का त्याग कर सामान्य किसान की तरह जीवन-यापन करना आरम्भ किया था। अन्त

में रूस की राजशक्ति ने उन्हें रूस से निर्वासित कर दिया। पर देखते नहीं, अब चारों ओर प्रजाशक्ति जाग उठी है। वह मानो समस्त संसार का ग्रास कर डालना चाहती है। अवश्य हम इस सब को खालिस अच्छा नहीं कह रहे हैं। यह तो एक प्रतिक्रिया भर है। फिर भी ये लोग कुछ बुरी शक्तियों के विरुद्ध संग्राम कर रहे हैं, इस दृष्टि से इसमें एक सार्थकता है। इस प्रकार के आघात-प्रत्याघात के परिणामस्वरूप एक सहज स्वाभाविक परिस्थिति निर्मित हो सकती है। फिर आजकल के क्रान्तिकारी लोग तो टालस्टाय से भी आगे निकल गये हैं। कहते हैं न, "विश्वकर्मा का बेटा बयालीस-कर्मा" —बाप से बढ़कर बेटा! समय पर सब ठीक हो जाएगा।"

*   *

सन्ध्या सात बजे का समय है। सेवाश्रम के बरगद के पेड़ के नीचे बेंच पर हरि महाराज बैठे हैं। एक ब्रह्मचारी और अनाथाश्रम का एक वयस्क छात्र उपस्थित हैं।

हरि महाराज— बड़ी गरमी है।

ब्रह्मचारी—अब कुछ बारिश हुई है।

हरि महाराज—कहाँ ? ज्यादा बारिश कहाँ हुई ? आज बाहर सोऊँगा। कल रात को दो बजे तक बाहर ही सोया था। उन लोगों ने मच्छरदानी के ऊपर एक चादर डाल दी थी। फिर जब मच्छरदानी के अन्दर

टप-टप करके पानी टपकने लगा तब मैं ऊपर उठ आया। शरीर के सुख के लिए लोग कितना करते हैं ! दिनरात वही करते रहते हैं। इतने पर भी क्या शरीर अच्छा रहता है ?

ब्रह्मचारी—महाराज, एलिजाबेथ हिमेन्स (Elizabeth Hemans) की एक कविता में यह भाव है कि दो बच्चे अलग अलग परिस्थितियों में जन्मने पर भी यदि उन्हें एक ही वातावरण में रखा जाय और एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाय तो उसका परिणाम दोनों पर एक ही होता है। वे (पाश्चात्य) लोग तो संस्कार-बंस्कार मानते नहीं। वे कहते हैं—शरीर भी पहले सभी के एक एक ही प्रकार के रहते हैं, बाद में जो जितना अधिक प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है वह उतना ही अधिक भोगता है और इसी से शरीरों में भेद निर्मित हो जाता है।

हरि महाराज— क्या हमेशा ऐसा ही होता है ? पाँच लड़के एक साथ रहने के बावजूद पाँच किस्म के बन जाते हैं। उन (पाश्चात्य) लोगों में पुनर्जन्म आदि की धारणा नहीं है न, इसीलिए वे संस्कार-बंस्कार नहीं समझते। क्या कोई एक tabula rasa (बेदाग पट, अर्थात् पूर्ण संस्कार रहित मन) लेकर जन्मता है ?

ब्रह्मचारी—हमारे शास्त्र कहते हैं, आत्मा क्रमशः हीन देह से उच्चतर देहों का आश्रय ग्रहण करती जाती है। डारविन के सिद्धान्त पर से ही उन (पाश्चात्य) लोगों

को पूर्व जन्म के सम्बन्ध में क्षीण आभास मिला।

डारविन के सिद्धान्त के नाम पर किसी ने एक शुद्धाचरणसम्पन्न ब्राह्मण बालक को बन्दर का वंशधर कहा। इस पर हरि महाराज बोल उठे—

"क्या पागलों की सी बकवास करते हो ! वह शुभ संस्कार सम्पन्न ब्राह्मण का लड़का है—भला बन्दर का वंशधर क्यों होने चला ? विद्वानों या आधुनिक विज्ञान का मत है इसीलिए क्या उसे सत्य मान लेना होगा ? विज्ञान का हाल तो देख ही रहा हूं—वह आज जो सिद्धान्त करता है, कल ही उसमें से कितना अंश उड़ जाता है। डारविन का सिद्धान्त जो मानना चाहे माने। हमारे शास्त्रों में मानव-सृष्टि के सम्बन्ध में दो मतवाद पाये जाते हैं। एक है, चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर चुकने के पश्चात् मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। यह बहुत कुछ डारविन के मतवाद जैसा है। अन्तर इतना ही है कि डारविन हैं जड़वादी और हमारे शास्त्र आत्मवादी। डारविन कहते हैं, इस स्थूल शरीर का ही क्रमविकास होता है।

दूसरा मतवाद है, भगवान् से नीचे उतर आना। सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा ने प्रथम सनत्कुमार आदि कुमारों का सृजन किया और उनसे कहा, 'संसार करो।' पर वे भगवान् से जो उतर आये थे, बोले, 'यह कैसी बात है ? हमसे संसार नहीं होगा।' फिर ब्रह्मा ने प्रजापतियों की सृष्टि की। वे संसार करने को राजी हुए। यह तो सीधी सी

बात है। यह तो हम भी देखते हैं। अब भी दिखायी पड़ता है, कितने ही लोगों में जन्म से ही विवाह आदि की इच्छा नहीं रहती। ये ही हैं कुमार। जिनमें पुत्रोत्पादन की शक्ति नहीं जन्मी, उन्हीं को साधारणतया कुमार कहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति साधना के बल पर यह कुमार की अवस्था आजीवन बनाये रख सकता है, उसी को यथार्थ कुमार कहा जा सकता है। शास्त्र का यह दूसरा मत ही अधिक सुन्दर है। हम अमृत की सन्तान हैं, बन्दर की औलाद क्यों होने चले ! 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।'[1] ठाकुर होमापक्षी की कथा बताते थे, सुना नहीं ? वह चिड़िया आसमान में ही अण्डा देती है। अण्डा गिरते गिरते आसमान में ही फूट जाता है और उसमें से बच्चा निकल आता है। गिरते हुए बच्चा ज्यों ही देखता है कि वह जमीन की ओर गिरा जा रहा है त्योंही उसे याद आ जाता है कि उसके माँ-बाप ऊपर हैं और वह तत्काल तेजी से ऊपर की ओर उड़ जाता है। जमीन पर गिर नहीं पाता। इसी प्रकार, अनेक लोग हैं जो थोड़ी उम्र बढ़ते ही संसार की आसक्ति से रहित हो भगवान् की ओर दौड़ पड़ते हैं। एक है दृष्टान्त और दूसरा दार्ष्टान्तिक। मुझे याद आता है—जब मेरी उम्र दस साल या और भी कम, शायद आठ साल, रही होगी उस समय मैंने

---

१. 'जिसे प्राप्त करने की इच्छा करने वाले वे ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।'

अपने मित्र से कहा था, मैं शादी नहीं करूंगा। वह मित्र भी साधु बन गया, मैं भी साधु बन गया।

(बालक के प्रति--) "तू साधु बनेगा या गृहस्थ --बोल।"

बालक-- साधु बनूँगा।

हरि महाराज--निश्चित! अवश्य साधु बनना। अभी से प्रयत्न करने पर ठीक ठीक भगवान् लाभ होगा। मन में एक निश्चय रहना चाहिए---मैं उन्हें पाकर ही रहूंगा। अभी से खूब जितेन्द्रिय, संयमी होने से उनका साक्षात्कार हो जाएगा। यदि तू साधारण लोगों की तरह बनना चाहता है तो तू खाएगा-पीएगा, लड़के-बच्चे होंगे, रुपये-पैसे कमाएगा, मर जाएगा--बस यहीं सब समाप्त हो जाएगा! तू गृहस्थ का मान-यश चाहता है या साधु बनना चाहता है?

बालक -- क्या साधु के मान-यश नहीं होता? साधु के भी तो मान--यश होता है।

हरि महाराज -- अवश्य! साधु के भी मान-यश है। देख तो स्वामीजी का यश कैसा विलक्षण था! कैसे वीर की तरह जगत् को जीत गये! वे कितने वीर थे सोचो तो! कैसी अपूर्व जितेन्द्रियता थी! वैसा होने पर तो सब हो गया। उच्च उच्च विषयों के प्रति मन था, इसलिए नीचे की ओर जा ही नहीं पाया। ठाकुर कहते थे --लोगों का मन अधिकांशतः पायु, उपस्थ और नाभि में ही रहता है। साधक का मन हृदय में उठ

जाता है। फिर और भी ऊपर—कण्ठ में। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र में मन के उठ जाने पर समाधि लगकर इक्कीस दिनों के अन्दर देहत्याग हो जाता है। ठाकुर और भी कहते थे — सोना घूरे में पड़ा रहने पर भी सोना है और घर में रखा रहने पर भी सोना! चाहे जहाँ छोड़ रखो, शक्ति रहने पर प्रकाश होगा ही।

"ईश्वर पर विश्वास रखते हुए उनके निकट भक्ति माँगना। (ब्रह्मचारी के प्रति) यह शिव के निकट पाशुपत अस्त्र माँगता है। तू पाशुपत अस्त्र लेकर क्या करेगा? तू क्षत्रिय नहीं, तू तो ब्राह्मण है। तू उन्हें सन्तुष्ट करके ब्रह्मज्ञान माँग ले। ब्राह्मण के लिए इससे बड़ा अस्त्र दूसरा नहीं है। तू विश्वामित्र और वसिष्ठ की कथा जानता है? एक दिन राजा विश्वामित्र धनुष-बाण आदि से वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मारकर उनकी कामधेनु ले चलते बने। किन्तु सब कुछ देखते हुए भी वसिष्ठ कुछ न कहकर ब्रह्मदण्ड हाथ में लिये बैठे रहे। तब विश्वामित्र ने हाथ जोड़ लिये और उनके चरणों में गिरकर कहा—क्षत्रिय-बल को धिक्कार है। यह कहकर उन्होंने क्षमा माँगी।"

बालक सन्ध्या-वन्दनादि के लिए विदा लेकर चला गया। तब हरि महाराज बोले, "इस लड़के में बड़े शुद्ध संस्कार है इसमें रजोमिश्रित सत्त्व है। ब. भी बड़ा सत्त्वगुणी है। अब ठीक तरह से चले तो अच्छा होगा, नहीं तो और चार लोगों के जैसा बन जाएगा। दैव कह-

कर कुछ नहीं है। वैसे कहा जाए तो सभी पुरुषकार है। योगवासिष्ठ में पुरुषकार की बड़ी प्रशंसा की है। दैव बिल्कुल है ही नहीं, सो बात नहीं। 'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या।'[२] पुरुषकार-सम्पन्न व्यक्ति के लिए दैव भी अनुकूल हो जाता है। God helps those who help themselves[३] दैव के भरोसे रहने के फलस्वरूप लोग नीचे की ओर जाने लगते हैं। लोग अपने ही दोष के कारण गड़बड़ कर बैठते हैं और फिर दैव को दोष देते हैं। यह समझना चाहिए कि गिर पड़ना accident (आकस्मिक घटना) है, गति ही स्वाभाविक चीज है। भूल चूक या भ्रम होना accident है, ऊपर उठना ही स्वाभाविक है।"

ब्रह्मचारी–जिस प्रकार कैंची के दो पातों में से कौन सा पात काटने की क्रिया के लिए कितना उत्तरदायी है यह हम नहीं जानते, उसी प्रकार हमारी कार्यसिद्धि के लिए हमारे दैव और पुरुषकार में से कौन कितना उत्तरदायी है इसका ठीक ठीक निर्धारण हम नहीं कर सकते। हम मान लेते हैं कि काटने की क्रिया में कैंची के दोनों पात समान रूप से उत्तरदायी हैं। हमारे पुरुषकार का पात हमारे हाथ ही में है। उसे धार करना हमारी

---

२. 'दैव को जीत कर अपनी शक्ति के बल पर पुरुषार्थ करो।'

३. जो स्वयं प्रयत्न करते हैं, उनकी भगवान् सहायता करते हैं।

सामर्थ्य के अन्दर है। दैव का पात हमारी सामर्थ्य के बाहर है। इसीलिए अपने स्वाधीन जो पात है उस पर धार चढ़ा दूसरे पात की प्रतीक्षा में रहना ही हमारे लिए उचित है।

हरि महाराज-- सही बात है। यही उपाय है। ऐसा न होने पर कोई फल ही नहीं मिलता। फिर भी भक्त के निर्भरता नाम की एक वस्तु होती है। वह दुर्बलता नहीं है। वह है --'तुम्हारी ही इच्छा पूरी हो।

*　　　　　　　　*

स्थान -- रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, बनारस

४ जुलाई, रविवार, १९२०

अपराह्‌न के पाँच बजे का समय है। कमरा लोगों से भरा हुआ है। सभी लोग महाराज का वार्तालाप सुनने के लिए प्यासे बनकर बैठे हैं। ऐसे समय एक सज्जन आये और महाराज को साष्टांग प्रणाम कर बैठ गये। इन सज्जन की संसार को त्यागकर संन्यास ग्रहण करने की इच्छा है। परिचय आदि के बाद उन्होंने अपना मनोभाव प्रकट किया। उनके मुंह से यह सुनकर कि उनके स्त्री पुत्र आदि विद्यमान हैं, महाराज ने कहा, "सब छोड़-छाड़कर चले आये ? खुद भोग-वोग करके खिसक गये ? उन लोगों की कोई व्यवस्था न करके खिसक जाना कितना cruel and cowardly (क्रूरता और कापुरुषता) है यह आपकी समझ में नहीं आ रहा है ! फट से त्याग कर दिया कि सब हो गया ? "

सज्जन बोले—"यह संसार तो व्यावहारिक है, यह तो अज्ञान का कार्य है।"

महाराज—और यह भाग आना पारमार्थिक हुआ ? यह ज्ञान का कार्य हुआ, यही न ? संसार में रहने से क्या धर्म नहीं होता ? एक बार नारद ने भगवान् से पूछा——'प्रभो आपका सब से श्रेष्ठ भक्त कौन है ?' भगवान् ने उससे कहा, 'अमुक गाँव में एक किसान है, वही मेरा सबसे श्रेष्ठ भक्त है। जाओ, देख आओ।' नारद वहाँ जा उपस्थित हुए। जाकर देखा, किसान खेत पर चला गया है। सारा दिन बीत जाने पर किसान घर आया और रात को एक बार भगवान् का नाम लेकर सो गया। यह देख नारद ने भगवान् के पास आकर कहा, 'यह कैसी बात है, प्रभो ? दिन भर फालतू संसार के काम में रह सिर्फ एक बार आपका नाम लेने पर यह आदमी श्रेष्ठ भक्त कैसे हुआ ?' भगवान् बोले, 'अच्छा नारद, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर बाद में मिलेगा। इस समय तुम यह तेल से भरा कटोरा लेकर पृथ्वी घूम तो आओ।' नारद के अत्यन्त सावधानी के साथ भू-प्रदक्षिणा कर लौट आने पर भगवान् बोले, 'क्यों नारद, अब समझ गये न, वह किसान क्यों सर्वश्रेष्ठ भक्त है ? कटोरी का तेल गिर न जाय इस चिन्ता के कारण तुमने एक भी बार मेरा स्मरण नहीं किया, किन्तु वह किसान इतने कामों में उलझा रहते हुए भी दिन के अन्त में प्रतिदिन

मेरा स्मरण किया करता है।'

"ठाकुर कहा करते थे—एक बार दक्षिणेश्वर में कोई एक मुखर्जी घर-बार छोड़कर सदाव्रत में भोजन करते हुए कालीमन्दिर में पड़ा रहने लगा। एक दिन ठाकुर ने उनसे पूछा, 'तुमने विवाह किया है? लड़के बच्चे हैं?' उसके 'हाँ' कहने पर ठाकुर ने पूछा, 'उन्हें कौन देख रहा है?' उत्तर में मुकर्जी के मुंह से यह बात सुनकर कि उनका परिवार उसकी ससुराल में पड़ा है, तत्काल ठाकुर बोल उठे, 'रे दुष्ट, विवाह करते समय तू, लड़के-बच्चे को जन्म देते समय तू, और रोटी-कपड़ा देते समय तेरा ससुर? और यहाँ गरीबों के लिए जो अन्न दिया जाता है उसका ध्वंस कर रहा है!' ये बातें सुनकर मुखर्जी घर लौट गया और मन लगाकर संसार करने लगा।

"शास्त्रों में भी चतुराश्रम की बात कही है। पहले ब्रह्मचर्य धारण कर गुरुगृह में रहते हुए विद्याभ्यास करना होता था। उस समय शिष्य गुरु-शुश्रूषा, अटूट ब्रह्मचर्य, अध्ययन आदि कर्तव्यों को स्वीकार करता था। यह कर्तव्य पूरा होते ही छुट्टी मिल जाती थी। गुरुगृह में पाठ समाप्त हो जाने पर शिष्यगण आत्मपरीक्षा करके देखते थे, संसार में लौटना चाहिये या नहीं। जो समझते कि उनके मन में संसार-वासना अधिक है, वे समावर्तन—स्नान करके संसाराश्रम में प्रवेश करते। संसार-आश्रम में भी दारपरिग्रह, पुत्रोत्पादन, अतिथि सेवा, परिवार

पालन आदि कई कर्तव्य हैं। इन्हें पूरा कर लेने पर ही छुट्टी मिलती है। क्या एक ही चीज चिरकाल अच्छी लगती है? भोग वासना जब कम हो जाती और गृहस्थी के कर्तव्य समाप्त हो जाते, तब वे वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करते। वहाँ पत्नी को भी साथ ले जाया जा सकता था। परन्तु वहाँ पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहना पड़ता था—कामभाव से नहीं।

"उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद है। याज्ञवल्क्य का विद्वत्-संन्यास हुआ। उन्होंने अपनी दो पत्नियों से कहा, 'अब मेरी प्रव्रज्या का समय आ गया, अतः मेरे जो कुछ है वह तुम दोनों बाँट लो।' तब मैत्रेयी बोलीं, जो पाने से मैं अमृतस्वरूप नहीं बनूँगी वह लेकर मैं क्या करूँगी? ये थाली—लोटे मुझे अमृतत्व नहीं देने वाले।' यह बात सुनकर याज्ञवल्क्य बोले 'मैत्रेयी, मैं पहले भी तुम्हें चाहता था, पर अब मैं तुम्हें और अधिक चाहने लगा।' ऐसा कह कर उन्होंने मैत्रेयी को अनेक उपदेश दिये। उन्होंने भी संन्यास ग्रहण किया।

"परन्तु संसार अच्छा नहीं लग रहा है, इधर स्त्री पुत्र ग्रहण कर बैठा हूं, ऐसी दशा में क्या उन्हें छोड़ा जा सकता है? उनका क्या होगा? यह तो बड़ा स्वार्थीपन है। संसार में रहते हुए उनका पालन करना अपना कर्तव्य पालन करना—यह भी तो धर्म ही है। झट से छोड़ देने से कुछ लाभ नहीं होगा। एकदम झट से छत पर नहीं चढ़ा जा सकता, एक के बाद एक

सीढ़ियाँ चढ़कर जाना पड़ता है। ठाकुर कहते थे, 'फल कच्ची अवस्था में गिर पड़े तो सड़कर नष्ट हो जाता है। कच्चे फोड़े पर की पपड़ी खींच निकालने पर खून आने लगता है, फोड़ा सूख जाने पर पपड़ी आप ही झड़ जाती है।' कितनी विलक्षण बात है, एक बार सोचकर देखो। मन ही सब कुछ है, मन के सिवा कुछ भी नहीं। कोई विवाह कर बैठा है, बाद में अफसोस कर रहा है, ठाकुर से संन्यास लेने की इच्छा जता रहा है, उसे ठाकुर कहते, 'धीरज मत छोड़, निष्ठा रहे तो सब ठीक हो जाएगा। जैसा नियम बना हुआ है उसके मुताबिक ठीक ठीक चलने से सब हो जाएगा।' यह तो अच्छा मजा है! छोड़-छाड़ देने से कैसे चलेगा? तुमने बाल-बच्चे पैदा किये हैं—अब अपना कर्तव्य किये जाओ, निःस्वार्थ भाव से करो। भगवान् को पुकारने के लिए मैं संसार छोड़ रहा हूं—यह बिलकुल झूठी बात है!

"पहले वर्णाश्रम धर्म में वर्णित कर्तव्यों को संपन्न करते हुए जब चित्त शुद्ध हो जाए, तब आत्मज्ञान-लाभ के लिए सद्‌गुरु के निकट जाना चाहिए। कर्तव्य को किये बिना छुटकारा नहीं है। एक को ठीक तरह से पूरा कर लेने पर दूसरा अपने आप आ जाता है। किन्तु बचपन से ही जिन्होंने संसार में बिलकुल प्रवेश नहीं किया, उनकी बात अलग है।

'अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥' ४

(उपस्थित संन्यासियों के प्रति–) "तुम लोग जो संसार में नहीं गये यह पूर्व संस्कार है। पूर्व पूर्व जन्मों में यह सब किया जा चुका है। फिर भला क्यों जाओगे? सब समझ चुके, इसीलिए छोड़ दिया है। तुम लोग वह अधिकार लेकर ही आये हो। देखते नहीं दुनिया कैसी पागल बनी हुई है। रुपया उधार लेकर भी विवाह करेंगे। ऋण चुकाते चुकाते शायद मर ही गये! किसी के गृहत्याग करने की बात कहने पर ठाकुर कहते, 'तेरी इच्छा यदि आन्तरिक हो तो सब सुविधा हो जाएगी।' ठाकुर यह नहीं कहते कि 'छोड़ आ', वे कहते, 'तेरी इच्छा यदि आन्तरिक हो। वे सब जान जाते थे न, इसी से ऐसा कहते थे। जबरदस्ती करने जाओ तो भारी दोष लगता है। वे अन्तर्यामी हैं, सभी के भीतर विद्यमान हैं। ठाकुर पतित स्त्री का उदाहरण देते थे। ऐसी स्त्री संसार के सभी कामकाज करती है, किन्तु अपना मन उपपति पर लगाये रहती है। ऐसा होते होते जब सम्पूर्ण मन उपपति पर चला जाता है, तब वह संसार छोड़कर उसी के साथ निकल पड़ती है। कितनी सुन्दर कहानी है न! एक हाथ में काम करो, दूसरे हाथ से भगवान् की सेवा करो। समय आने पर

४ 'कई हजार विप्र सन्तानोत्पत्ति न कर कुमार ब्रह्मचारी रहते हुए ही स्वर्ग को सिधार गये।'—मनुस्मृति ५/१५९

दोनों हाथों से उनकी सेवा कर सकोगे। यदि आन्तरिक इच्छा हो तो वह समय आता ही है।

अनादिकालोऽयमहंस्वभावो ।
जीवः समस्तव्यवहारवोढा ॥
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः
पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥'[५]

"मन-मुख एक होना चाहिए। मुख एक कहता है, मन दूसरा ही कहता है—ऐसा होने से नहीं होगा। मन जो कहे मुख भी वही कहेगा; मुख जो कहेगा, मन वही करेगा एक बार जो कह दिया वह करना ही चाहिए ऐसे व्यक्ति के लिए सब सुविधा हो जाती है तुम कल pre-destination (दैववाद) की बात कह रहे थे, वह कोई काम की बात नहीं। उससे तो कोई काम ही नहीं चलता। पाप-पुण्य भी नहीं रह जाता हाँ केवल परम भक्त के resignation (निर्भरता) के सन्दर्भ में यह बात कही जा सकती है। वह यन्त्रचालित की तरह काम किया करता है। उसकी इच्छा और भगवत् इच्छा में कोई भेद नहीं होता। किन्तु उसकी भी test (परख) है। उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं हो सकता। उसका पाँव कभी बेताल नहीं पड़ता।

---

५. यह अहंस्वभाव वाला विज्ञानमय कोश ही अनादि-कालीन जीव है, यही संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वा करनेवाला है। यह अपनी पूर्व वासना के अनुसार अने पुण्य-पापमय कर्म करता है और उनके फल भोगता है।—विवेकचूड़ मणि, १८९

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥

"ठाकुर दूसरा आशीर्वाद नहीं देते थे, वे कहते थे, माँ, इन्हें चैतन्य हो, होश हो ।' राखाल महाराज उस समय ठाकुर के पास रहते थे। उनके सम्बन्धी उन्हें ठाकुर के पास ले आये थे । परन्तु जब उन्होंने देखा कि वे संसार छोड़ देने की ताक में हैं, तब उन्हें अच्छा नहीं लगा । पहले उन्होंने ठाकुर से कहा । किन्तु ठाकुर ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

उस समय सुरेश मित्र ठाकुर के लिए कुछ रुपये खर्च किया करता था । एक दिन मनमोहन (राखाल महाराज के श्यालक) ने ज्योंही कहा कि 'राखाल यहाँ रहे यह बात सुरेश बाबू पसन्द नहीं करते,' त्योंही ठाकुर बोल उठे, 'क्या ? सुरेश कौन है ! सुरेश यहाँ का कौन है ! अरे यह सब (सुरेशबाबू का दिया तकिया वगैरह दिखाते हुए) फेंक दे, निकाल दे । (ठाकुर जब नाराज हो जाते, तब सब थरथर काँपने लगते, कोई उनके

६. '(मनुष्य) स्वयं ही स्वयं का उद्धार करे, स्वयं को अवसन्न न होने दे। मनुष्य स्वयं ही स्वयं का मित्र है और स्वयं ही स्वयं का शत्रु ।' (गीता ६/५)

७. जिसका मन ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जो अचल है, जितेन्द्रिय है और मिट्टी, पत्थर एवं सोने को समान देखता है, वह योगी युक्त कहा जाता है ।' (गीता ६/८)

सामने नहीं जा पाता।) मैं माँ से कहता हूँ, कि माँ, इन लड़कों के लक्षण अच्छे हैं, इसीलिए इन्हें पास रखता हूँ। इन्हें होश हो, इन्हें थोड़ा चैतन्य हो। मैं कहता हूँ, होश हो जाने पर फिर जहाँ इच्छा हो वहाँ रहें।' सुरेश अन्त में उनके हाथ-पैर पकड़कर रोते रोते बोले, 'मैंने यह बात नहीं कही, ये झूठ कहते हैं।'

"अभी न जानने के कारण तुम डूबे जा रहे हो, जानकर संसार करो तो नहीं डूबोगे। न जानने के ही कारण सब गड़बड़ है। भाग किधर रहे हो? इससे तो 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाएगा। कुछ भी नहीं होगा। योगवासिष्ठ में है–विश्वामित्र ने जब दशरथ के निकट राम को माँगा, तब दशरथ ने कहा कि राम का शरीर दिनोंदिन शीर्ण होता जा रहा है। लगता है कि उसमें वैराग्य उदित हुआ है। ऐसी अवस्था में उसे मैं आपके साथ राक्षसवध के लिए कैसे भेजूँ? फिर राजा के आदेश से राम सभा में आये और सबको प्रणाम कर बैठ गये। तब विश्वामित्र ने उनसे पूछा, 'राम, यदि तुममें वैराग्य उदित हुआ हो तो यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है। किन्तु यह तो बताओ कि तुम दिनों दिन शीर्ण और मलिन क्यों होते जा रहे हो! उसमें तो मलिन होने की बात नहीं।' राम का मनोगत भाव जानकर विश्वामित्र ने वसिष्ठ से कहा 'देखो, तुम्हारे-हमारे युद्ध के पश्चात् ब्रह्माजी ने हम दोनों को जो उपदेश दिया, वह राम को सुनाओ। वह

ज्ञानलाभ करके संसारधर्म का पालन करे।'

"ठाकुर कहते थे–'सोना बनकर घूरे में पड़ा रहे, फिर भी सोना ही रहेगा।'

"सुख नहीं मिला इसलिए संसार छोड़ देना ठीक नहीं है। मनुष्य जागकर भी फिर सो जाता है। दरअसल मनुष्य को ज्ञान होने में क्या अधिक समय लगता है? 'सो जाता है' इसका मतलब यह है संस्कार प्रबल हैं। दांत पीसते हुए जोर लगाकर पुरुषकार के साथ उठ बैठना चाहिए। साधक स्वप्न में स्त्रीरूप देखता है, किन्तु साधना के संस्कार इतने प्रबल हैं कि वह स्वप्न में ही क्रुद्ध हो उठता है–स्वप्न में भी वह सजग रहता है। हम लोग कोई मशीन तो है नहीं–सभी अवस्थाओं में हम सजग रह सकते हैं। यह सम्भव होगा या नहीं इसकी परख है तुममें आन्तरिक इच्छा है या नहीं।

"अपने साक्षी तो तुम्हीं हो। जे भूल हुई सो हुई अब दृढ़ता से कहो 'अब नहीं करूंगा।' यदि वह दुबारा न करो तो बस हो गया काम! जैसे जैसे दुष्कर्मों के प्रति घृणा पैदा होती जाएगी और उनका दृढ़ता के साथ त्याग करते जाओगे, वैसे वैसे तुम मुक्त होते जाओगे। बड़े जोर के साथ कहना चाहिए-'नैतत् कुर्याम्!' प्रायश्चित करके फिर से पाप करने पर कोई रक्षा नहीं होने की। ठाकुर मादा भाव पसन्द नहीं करते थे। पूछ में हाथ लगा नहीं कि तड़ाक से उछल पड़े ऐसा बैल

होना चाहिए ।

"स्वामीजी के बारे में ठाकुर कहते, 'देखो कैसा वीरों जैसा भाव है, ज्योंही मन में आया त्योंही कटिबद्ध हो गया ।' सुविधा-असुविधा जो भी हो, कमर बाँधकर काम करना होगा । 'At any cost (किसी भी हालत में) करूंगा' यह भाव रहे तो जिसे तुम महान् विपत्ति सोचते थे और जिसके बारे में तुम्हें लगता था कि यह मुझे ग्रस लेगी, वही तुम्हारे मित्र का काम कर जाएगी । परन्तु आन्तरिक struggle (प्रयत्न) करना चाहिए । क्या कभी सुविधा भी होती है ? कर्तव्य जानकर करते रहना चाहिए । तुम तो अजर-अमर हो ही । तुम क्यों सुविधा ढूंढ़ते फिरोगे ? यह सब तो तुम्हारा ही निर्माण किया हुआ है ।

'य इच्छति हरिं स्मर्तुं व्यापारान्त गतैरपि ।
समुद्रे शान्तकल्लोले स्नातुमिच्छति दुर्मतिः ॥

समुद्र में स्नान करना है कहकर बैठा हुआ है । मतलब यह कि तरंगें रुक जाने पर स्नान करेगा । Nonsense (बेकार बात) ! क्या यह कभी सम्भव है ? धक्कम-धक्का खाकर किसी प्रकार स्नान कर आओ-समुद्र जैसा है वैसा ही रहेगा । संसार इन तरंगों के बीच ही भगवान् को पुकारना होगा । सुविधा खोजना कोई काम की

---

८ 'जो चाहता है कि सभी व्यापारों के समाप्त हो जाने पर मैं हरि का स्मरण करूंगा वह समुद्र की तरंगें शान्त हो जाने पर स्नान करने की इच्छा रखने वाले दुर्मति की तरह है ।

बात नहीं। Now or never (या तो इसी समय या फिर कभी नहीं)! लग जाओ, असुविधा भी सुविधा में परिणत हो जाएगी।

"कितना सुन्दर कहा है! कर्तव्य समाप्त किये बिना मुक्ति नहीं, छुटकारा नहीं। जिस कार्य को बिना पूरा किये छोड़ रखा है वह वैसा ही धरा रहा, फिर आएगा। Face the brute (जानवर का सामना करो)! भागकर बच नहीं पाओगे। संन्यास लेने से सुविधा होगी, गार्हस्थ्य में असुविधा है– यह कोई काम की बात नहीं। एक अवस्था के कर्तव्य पूरा किये बिना दूसरी अवस्था में जाना सम्भव नहीं। Aspire करो– shirk मत करो (उच्च अवस्था पाने की आकांक्षा रखो, परन्तु उपस्थित कर्तव्य में टालमटोल मत करो)। Don't do that (ऐसा मत करो)। कुमार वैरागियों की बात अलग है। वे जो संस्कार लेकर आये हैं, उससे वे यदि संसार में भी रहें तो वहाँ भी सन्यासियों की ही तरह रहेंगे। वह जो है, वही है। Avoidance (कर्तव्य टालना) अच्छा नहीं। Avoid करने (टालने) का उपाय भी नहीं है।

"पतित स्त्री की कहानी इस ओर का (संसार में रहते हुए भगवान् में चित्त को रखने का) दृष्टान्त है। भगवान् के प्रति भक्ति-निष्ठा हो इसके लिए हृदय से सच्ची प्रार्थना होनी चाहिए। स्वयं को ready (तैयार) करने के लिए साधुसंग और बीच बीच में निर्जनवास करना आवश्यक है। आंतरिक इच्छा हो तो प्रभु ही सब ठीक

कर देते हैं। यह मन उन्हें देना होगा। दूध से मक्खन निकालना होगा। तभी वह जल में रहने पर भी उसमें नहीं मिल पाएगा। जिसने जितना अधिक self-examination (आत्मपरीक्षण) किया है, जिसने स्वयं को जितना अधिक ठीक ठीक जाना है वह उतना ही बड़ा साधु है। Self-examination बड़ी कठिन चीज है। मन जो धोखेबाजी करता है उसे समझना बड़ा कठिन है।

"गोविन्द ! गोविन्द ! भगवान् ! भगवान् !

"आप बीच बीच में इस ओर आया करें।"

(क्रमशः)

०

विभीषण-शरणागति (५/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्याय जी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी के पाँचवे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रम-साध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।–स०)

विभीषण पूर्वजन्मों से ही भक्ति और धर्म के संस्कारों से पूरित हैं। फिर भी उनकी जीवनयात्रा में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। कुछ कठिनाइयाँ तो बाहर की थीं और कुछ उनकी मान्यताओं, अपने संस्कारों के कारण पैदा हुई थीं। फिर भी यह यात्रा चल रही थी। पर वह सौभाग्यशाली घड़ी भी उनके जीवन में आयी, जैसा कि कल कथा के अन्त में प्रसंग चल रहा था, जब वे रावण को पूरी तरह से पहचान सके। बुराई के न छूटने का एकमात्र कारण यह है कि उसकी पूरी तरह से बुराई हमें नहीं दिखायी देती। यदि उसमें एक भी अच्छाई दिखेगी, तो उसके बने रहने का कारण बन जायगा। इसलिए साधक को बुराई से समझौता नहीं करना चाहिए।' उससे समझौता मानों रोग और ओषधि से समझौता है। वैसे तो ओषधि और

रोग का कोई समझौता नहीं होता, पर व्यक्ति करता देखा जाता है। औषधि का उद्देश्य है रोग को पूरी तरह से नष्ट कर देना। लेकिन अगर रोगी कुपथ्य करे और सोचे कि क्या हुआ यदि औषधि दीर्घ काल तक लेनी पड़े, हमें तो बस यही देखना चाहिए कि रोग इतना उग्र न हो जाय कि हम पंगु हो जायें, तो यह औषधि और रोग का समझौता है। ऐसे समझौते का लाभ रोग को ही मिलेगा, औषधि को कभी नहीं। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि रोग धीरे धीरे औषधि के प्रभाव का अभ्यस्त हो जायगा और तब उसका मिटना बड़ा कठिन हो जायगा। तभी तो 'रामचरित मानस' में एक विचित्र वाक्य कहा गया है—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि। ३/२१ क

—'शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, स्वामी और सर्प को कभी छोटा समझकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।' यह बड़े पते की बात है। यदि आग बुझाते समय कोई व्यक्ति यह सोचे कि अभी तो आग बड़ी प्रचण्ड दिखायी दे रही थी, उसकी बड़ी बड़ी लपटें उठ रही थीं, पर अब तो उसका रूप अत्यन्त छोटा है, अब शायद वह हानि न करे और ऐसा सोचकर वह आग की उपेक्षा करता हुआ पूरा न बुझाए, तो वह आग फिर से उग्र रूप धारण कर सकती है। यही बात शत्रु और रोग के विषय में है। प्रतापभानु के जीवन का भी यही सत्य था। सारे शत्रुओं को जीतने के बाद भी उसने एक शत्रु की उपेक्षा कर दी। उसके

मन में यह भाव बना रहा कि मैंने तो संसार के सारे राजाओं को परास्त कर दिया है, अब अगर एक शत्रु बचा रह भी गया तो वह क्या कर लेगा ? गोस्वामीजी अपनी सांकेतिक भाषा में कहते हैं कि प्रतापभानु ने दो शत्रुओं को छोड़ दिया था। एक तो कालकेतु नाम का राक्षस था, जिसके पुत्रों और भाइयों को उसने मार डाला था, और दूसरा वह था, जिसका नाम गोस्वामीजी ने नहीं लिखा। इसका तात्पर्य यह कि वह दूसरा शत्रु इतना नगण्य था कि शायद संसार में कोई भी उसका नाम नहीं जानता था। पर उस नगण्य और अज्ञात व्यक्ति की उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसने आगे चलकर ऐसी योजना बनायी, जिससे प्रतापभानु का जीवन पूरी तरह से राक्षसत्व में परिणत हो गया। कालकेतु के प्रसंग में गोस्वामीजी लिखते हैं--

> **तेहि के सत सुत अरु दस भाई।**
> **खल अति अजय देव दुखदाई॥**
> **प्रथमहिं भूप समर सब मारे।**
> **बिप्र संत सुर देखि दुखारे॥ १।१६९।५-६**

--प्रतापभानु ने कालकेतु के दस भाइयों और सौ पुत्रों को मार डाला और कालकेतु को छोड़ दिया। इसके पीछे मनोविज्ञान यह है कि जब एक सौ दस मर गये, तब अगर एक बच भी गया तो क्या कर लेगा ? पर गोस्वामीजी इस पर व्यंग्य करते हैं, वह यह कि भाइयों और पुत्रों को तो मार दिया, पर पिता को छोड़ दिया

इसका तात्पर्य यह कि पिता तो है कारण और पुत्र है कार्य। कार्य बहिरंग होता है और कारण अन्तरंग। यदि कोई कार्य को नष्ट कर कारण को छोड़ देगा, तो भले ही थोड़ी देर के लिए कार्य से मुक्ति दिखायी-सी पड़ती हो, पर फिर से कार्य पैदा हो जाएगा क्योंकि कारण विद्यमान जो है। यह तो वैसा ही है, जैसे कोई सिर-पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए सिर-दर्द की दवा ले। उससे सिर-दर्द की तात्कालिक शान्ति तो हो जायगी, पर जब तक वह सिर-पीड़ा का कारण समझ लेकर उसकी ओषधि नहीं करेगा, तब तक उसे सिर-पीड़ा बार बार सताती रहेगी। तो, प्रतापभानु के जीवन के माध्यम से गोस्वामीजी हमें सावधान कर देते हैं कि शत्रु को कभी छोटा नहीं समझना चाहिए। दुर्बलता भले ही नगण्य मालूम होती हो, पर उसे भी समूल नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिए, अन्यथा उसी तुच्छ सी मालूम पड़ने वाली दुर्बलता के माध्यम से साधक के जीवन में राक्षसत्व के आने की सम्भावना बनी रहती है।

गोस्वामीजी साधना की समग्रता का संकेत हनुमान् जी के चरित्र के माध्यम से देते हैं। वे कहते हैं कि जब हनुमान्‌जी लंका जाते हैं और राक्षसों को परास्त कर लौटने लगते हैं तब—

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी।
गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥ ५/२७/१

—वे महाध्वनि से भारी गर्जन करते हैं, जिसे सुनकर

राक्षसों की स्त्रियों के गर्भ गिरने लगते हैं। इसका तात्पर्य यही कि हनुमान् जी ने राक्षसों का विनाश तो किया ही साथ ही जो राक्षसों का मूल कारण है, जो गर्भस्थ शिशु हैं, जो बीज हैं, उनका भी विनाश किया। तो साधक के जीवन की समग्रता यह है कि वह न केवल वर्तमान, बाहर से दिखनेवाले बुराइयों को नष्ट करे, बल्कि भविष्य के लिए जो बुराइयाँ बीजावस्था में हैं, जो अभी अंकुरित हो रही हैं, जो अभी प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय न होने के कारण कोई हानि करती दिखायी नहीं पड़ रही हैं, उन्हें भी जड़ से उखाड़कर नष्ट कर दे।

इस सबका अर्थ यही है कि अच्छाई और बुराई का, पुण्य और पाप का, ओषधि और रोग का कोई समझौता नहीं होता। पर विभीषणजी ने अपने जीवन में ऐसा समझौता कर लिया था और वही अवरोध बनकर उन्हें भगवान् की शरण में जाने से रोक रहा था। उनका वह समझौता तभी टूटता है, जब बुराई में उन्हें केवल बुराई दिखायी देती है। यदि व्यक्ति को बुराई में तनिक भी अच्छाई दिखे, तो वह बुराई को छोड़ नहीं पाएगा। जैसे, किसी व्यक्ति को क्रोध आता है। उसका क्रोध कब छूटेगा ?—जब वह समझ ले कि क्रोध बिलकुल त्याज्य है। पर यदि क्रोध में उसे कोई गुण दिखायी दे, वह यदि उसके पीछे कोई एक दर्शन खड़ा कर दे, तब तो क्रोध छूटने वाला नहीं है।

व्यक्ति की प्रवृति ऐसी है कि वह अपने दुर्गणों की भी व्याख्या करके उन्हें दर्शन का रूप दे देता है। तो, जैसे क्रोध को दार्शनिक रूप दिया जा सकता है, वैसे ही काम और लोभ को भी। 'धर्मरथ' के प्रसंग में इसे सांकेतिक ढंग से समझाया गया है। वहाँ कहा गया है-

बल बिबेक दम परहित घोरे ६/७६/६

इसका मतलब यह कि दो घोड़े सामने हैं और दो पीछे। दम का घोड़ा सामने रहे और उसके पीछे रहे विवेक का घोड़ा, जिससे बुद्धि इन्द्रिय-दमन का समर्थन करे। अन्यथा मनुष्य बुद्धि के द्वारा वासना का, भोगों का भी तो समर्थन कर सकता है। आज के युग में तो अनेक ग्रन्थ इसी पर लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं, और उनमें बौद्धिक तर्कों द्वारा भोगों का समर्थन किया जाता है। यह प्रवृत्ति कोई नयी नहीं है। तर्क के द्वारा भोग का समर्थन तो हो जायगा, पर ऐसा समर्थन व्यक्ति के विनाश का हेतु बनेगा। अतः बुद्धि का प्रयोग इन्द्रिय-दमन में होना चाहिए, जैसा कि 'धर्मरथ' के प्रसंग में संकेत किया गया ह। पर व्यक्ति तो अपनी बुराई के समर्थन में तर्क ढूंढ़ता है। रावण और कुम्भकर्ण के चरित्र में हमें यही वृत्ति परिलक्षित होती है। यदि रावण भगवान् का भजन नहीं करता, तो उसके पीछे भी तर्क ढूंढ़ लेता है-अपनी चतुराई प्रकट करते हुए कह देता है कि यदि मैं भगवान् का भजन नहीं कर पाता, तो इसमें मेरा दोष थोड़े ही है। तब किसका दोष है? ईश्वर का। कैसे? ईश्वर ने ही तो मुझे तमोगुणी शरीर दे दिया, जिससे मैं भजन न

कर सकूँ! –होइहि भजनु तामस देहा' (३/२२/५)। कुम्भकर्ण भी ऐसा ही बहाना ढूँढ़ता है। वह है तो रावण का छोटा भाई, पर रावण को उपदेश देता है। जब रावण जाकर उसे जगाता है, तो वह पहले तो रावण को सीताजी को हरकर लाने के लिए धिक्कारता है, फिर कहता है––

नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा।
कहतेउँ तोहि समय निरबहा॥ ६/६२/६

––अरे, क्या बताऊँ, मैं तो तुझसे वह ज्ञान कहता, जो नारद मुनि ने मुझसे कहा था, पर अब तो समय जाता रहा। अरे, भला, क्या ईश्वर के भजन के लिए कभी समय समाप्त होता है? ईश्वर की भक्ति तो काला-बाधित है। उसके लिए ऋतु के समान यह प्रश्न नहीं खड़ा होता कि समय है या नहीं। रावण से तो कुम्भकर्ण ऐसी बात कहता है, और विभीषण से? युद्ध भूमि में जब विभीषण ने भगवान् राम से पूछा कि क्या मैं जाकर कुम्भकर्ण से मिल आऊँ, तो प्रभु बोले,––हाँ, जाओ, मिल आओ। तब विभीषण कुम्भकर्ण के पास जाते हैं और उसे प्रणाम कर अपना परिचय देते हुए कहते हैं––

तात लात रावन मोहि मारा।
करत परम हित मंत्र बिचारा॥ ६/६३/५

––'तात, मैं तो रावण को परम हितकर सलाह दे रहा था, पर उन्होंने मुझे लात मार दी।'

तेहिं गलानि रघुपति पहिं आयउँ।
देखि दीन प्रभु के मन भायउँ॥

—'उसी ग्लानि के मारे में प्रभु की शरण में आ गया। दीन देखकर प्रभु के मन को मैं बहुत प्रिय लगा।' विभीषण की बात सुनकर कुम्भकर्ण बोल उठा—

धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन।
भयहु तात निसिचर कुल भूषन॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।
भजेहु राम सोभा सुख सागर॥ ६/६३/८-९
बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।६/६४

—'हे विभीषण, तू धन्य है, धन्य है, धन्य है। हे तात, तू राक्षसकुल को भूषण हो गया! हे भाई, तूने अपने कुल को देदीप्यमान कर दिया, जो शोभा और सुख के समुद्र श्री राम को भजा। मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर तू रणधीर श्री रामजी का भजन करना।' सुनकर विभीषण को ऐसा लगा कि शायद ये भी परिवर्तित हो भगवान् की सेवा में आ जाएँगे, इसलिए उन्होंने आँखों ही आँखों में मानो कुम्भकर्ण से पूछा—मैं तो प्रभु का भजन करूँगा और आप? कुम्भकर्ण बोला—

जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर॥६/६४

—भाई, मैं तो अब काल के वश हो गया हूँ, मृत्यु अब मेरे निकट आ गयी है, मुझे कुछ दिखायी नहीं दे रहा है, अपना-पराया नहीं सूझ रहा है, इसलिए तुम अब जाओ और मुझे ऐसे ही रहने दो।

तो, कुम्भकर्ण रावण से एक बात कहता है और

विभीषण से दूसरी। रावण और कुम्भकर्ण अपनी बुद्धि का गलत उपयोग करते हैं, वे अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप चलने के लिए बुद्धि के सहारे बहाना ढूंढ़ लेते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपनी बुराई को भी तर्क के द्वारा अच्छाई का जामा पहना देते हैं और इस प्रकार बुराई उनके जीवन से दूर नहीं हो पाती। विभीषण भी बहुत दिनों तक यह समझ नहीं सके कि रावण बुरा है। उन्हें रावण के गुण ही दिखायी देते थे। कल कथा के अन्त में जैसा हम कह रहे थे, जब रावण ने विभीषण के कहने से हनुमान् जी का मृत्युदण्ड रोक दिया, तब तो विभीषण के मन में एक बार पुनः रावण का बड़ा उज्जवल चित्र अंकित हुआ। उधर रावण की मनः स्थिति कैसी थी ? जब हनुमान् जी द्वारा लंका जल गयी तो रावण को विभीषण पर क्रोध तो हुआ, पर वह उस समय मौन रह गया, क्योंकि वह अपने को लोगों के बीच हँसी का पात्र नहीं बनाना चाहता था। उसने सोचा कि अगर इस समय मैं विभीषण से कहूँ, तो लोग मेरी बुद्धि पर ही हँसेंगे कि मैंने कैसे बिना सोचे-समझे विभीषण की बात को मान लिया। ऐसा विचार कर वह शान्त रहा। उसके शान्त रहने से विभीषण जी का उत्साह और बढ़ गया। उन्हें लगा कि मेरे कहने से रावण ने न केवल हनुमान् जी छोड़ दिया, अपितु मेरी सम्मति मानने से लंका के जल जाने के कारण उन्हें जो क्रोधित होना चाहिए था, वह भी वे

नहीं हुए और शान्त बने रहे। और इस प्रकार विभीषण को रावण में दोहरा गुण दिखायी देने लगा। पर क्या सचमुच रावण शान्त था ? वह तो वास्तव में अपने मन के क्रोध को प्रकट करने के लिए उचित अवसर की खोज में था। जब वह देखता है कि सारी लंका जल गयी और विभीषण का घर नहीं जला, तब वह निश्चय करता है कि जो वस्तु अग्नि के द्वारा नहीं जली, उसे मैं जलाऊंगा ! विभीषण यह भांप नहीं पाये। वे तो रावण के शान्त बने रहने का गलत अर्थ लगा लेते हैं और उत्साहित होकर उसे श्री राम की भक्ति का उपदेश देते हुए कह बैठते हैं—

सीता देहु राम कहुं अहित न होइ तुम्हार। ५/४०

—'श्री राम को सीताजी दे दीजिए, जिससे आपका अहित न हो।' परिणाम यह होता है कि रावण का सुप्त क्रोध एकदम भड़क उठता है। बुरे व्यक्ति का संयम भी घातक हुआ करता है। बुरा व्यक्ति जब किसी बात का संयम करता है, तो उसका अभिप्राय है कि वह बदला लेने के लिए शक्ति-संचय कर रहा है और जब वह शक्ति का प्रयोग करता है, तब बहुत भयानक रूप से करता है। रावण अत्यधिक उग्र हो जाता है—

रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। ५/४६(क)

—रावण की क्रोधरूपी अग्नि विभीषण के वचन रूपी पवन से प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। वह विभीषण पर अपने चरण से प्रहार करता है और उनसे कहता है—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती ।
सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती ॥ ५/४०/५

–'मेरे नगर में रहकर तू तपस्वियों से प्रेम करता है ! मूर्ख, जाकर अपनी नीति उन्हें सुना !'

फिर रावण एक विचित्र कार्य करता है। वह अपने द्वारा अपमानित और तिरस्कृत विभीषण को राम के पास जाने देता है। यदि उसे विभीषण के प्रति सन्देह हो गया था, तो उचित यह था कि वह उन्हें पकड़कर कारागार में डाल देता या मृत्यु-दण्ड दे देता। पर रावण यह कुछ नहीं करता, अपितु विभीषण की छाती में लात मारकर उन्हें निकाल देता है और कहता है कि जा, तू अपने राम के पास जाकर अपनी नीति बता ! इसका कारण यह था कि रावण को लगा, विभीषण की नीति ऐसी खतरनाक है कि मैंने उसे मान लिया तो लंका जल गयी ; अब अगर राम भी उसकी सलाह मान ले, तो उसका भी सर्वनाश ही होगा ! और ऐसा सोचकर रावण विभीषण को राम के पास जाने से मना नहीं करता, बल्कि उल्टे जाने को ही कहता है। रावण तो यही सोचता है कि मैं बड़ी बुद्धिमत्ता का कार्य कर रहा हूं। अवश्य सुग्रीव रावण का यह तर्क समझ नहीं पाते। वे तो श्री राम से यही कहते हैं कि आप विभीषण की बात का विश्वास न करें, वह तो रावण द्वारा भेजा गया भेदिया मालूम पड़ता है। रावण क्यों अपने विरोधी को यों आपके पास आने देगा ?

यदि हम सुग्रीव की दृष्टि से रावण का यह कार्य देखें, तो वह बड़ा विवेकहीन मालूम पड़ता है और ऐसे विवेकहीन कार्य को रावण बड़ा विद्वत्तापूर्ण मानता है। इसका कारण यही हो सकता है कि काल की प्रेरणा ही रावण को वैसा तर्क करने के लिए बाध्य करती है, जिससे विभीषण रावण का वास्तविक चित्र देख सकें और प्रभु के पास पहुंच जायें। 'रामचरितमानस' में कहा भी है कि जब काल किसी पर प्रहार करता है,तो डण्डे से नहीं करता, अपितु उसके बल, बुद्धि, धर्म और विचार इन चार वस्तुओं का अपहरण कर लेता है—

काल दंड गहि काहु न मारा।
हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥ ६/३६/७

इन चार वस्तुओं का अपहरण हो जाने से वह व्यक्ति अपने आप नष्ट हो जाता है। यहाँ पर रावण की मनःस्थिति इसी प्रकार की है। और विभीषण की? उनके लिए तो सबसे मंगलमयी घड़ी आ उपस्थित हुई। साधक के जीवन का सबसे सर्वोत्कृष्ट क्षण वह है, जब बुराई पूरी तरह से बुराई दिखने लगे और उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाय कि हमारे आराध्य मात्र एक ही हैं, दो नहीं। ऐसा नहीं हो सकता कि रावण भी हमारा आराध्य बना रहे और भगवान् भी—रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति! यह वृत्ति आपको 'रामचरित मानस' में आदि से अन्त तक अनेक पात्रों में दिखायी देगी। उदाहरणार्थ हमें इस बात पर आश्चर्य होता है कि देवताओं के ऊपर

राक्षसों का जब इतना अत्याचार होता है, तब भगवान् यदि देवताओं के रक्षक हैं, तो वे इतने विलम्ब से अवतार क्यों लेते हैं ? 'मानस' में इसका एक संकेत प्राप्त होता है। जिस समय भरत चित्रकूट जा रहे थे, तब देवताओं ने अपने गुरु बृहस्पति से तर्क किया -- गुरुदेव, भरत और श्री राम का मिलन नहीं होना चाहिए। बृहस्पति ने पूछा—क्यों ? देवता बोले—प्रभु का अवतार तो हम लोगों की रक्षा के लिए होता है और हमारा कार्य करने हेतु ही वे इस समय वन को गये हैं। अब यदि भरत श्री राम को लौटा ले जाएंगे, तब तो भगवान् के अवतार का उद्देश्य अपूर्ण ही रह जायगा। यह सुनकर बृहस्पति पूछते हैं—तुमने कैसे जाना कि भगवान् तुम लोगों के लिए अवतार लेते हैं ? "क्यों, महाराज, सारे शास्त्र कहते हैं कि भगवान् देवताओं की रक्षा के लिए अवतार लेते है।" गुरु बृहस्पति ने इस पर तुरन्त एक प्रश्न किया—यदि भगवान् तुम्हारे लिए अवतार लेते होते, तो तुम पर जब संकट आता है, तब वे लाखों बरस तक तुम्हें संकट में पड़े क्यों रहने देना चाहते हैं ?—

सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा।
नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥ २/२६४/५

—वास्तव में भगवान् तुम लोगों के लिए नहीं आते, वे प्रह्लाद आदि भक्तों के लिए अवतार लेते हैं। यह बात अलग है कि उनके आगमन से तुम्हारा भी काम सध

जाता है। इस समय भी भगवान् ने अवतार भरत के लिए लिया तुम्हारे लिए नहीं ! इस अवतार का मुख्य उद्देश्य है भरत और राम का मिलन, रावण का वध नहीं !

यह बड़ी अटपटी बात मालूम पड़ती है कि भगवान् देवताओं के लिए नहीं आते। ऐसा क्यों ? इसलिए कि लक्ष्य की दृष्टि से देवताओं और दैत्यों की मनोवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है। दैत्य भी अपने जीवन में सुख चाहते हैं, और देवता भी। सुख की परिभाषा दैत्य और देवता दोनों के लिए एक है। देवताओं की मनोवृत्ति भोगियों की ही मनोवृत्ति है। जैसे पापी धन, स्त्री, वैभव, यश या सत्ता में सुख मानता है, वैसे पुण्यात्मा भी अगर पूजा-पाठ आदि धर्म-कर्म करने का परिणाम इन्हीं सब वस्तुओं की प्राप्ति माने, तो विवेक की दृष्टि से एक पापी और एक पुण्यात्मा में अन्तर कहाँ है? हाँ, उस सुख को पाने के तरीके में भेद हो सकता है। एक पापी या आसुरी व्यक्ति यह मानता है कि इस वस्तु को चाहे जिस किसी तरह से पाने की चेष्टा करें और पुण्यात्मा यह सोचता है कि नहीं हम उसे सही तरीके से ही प्राप्त करने का प्रयास करेंगे इस भोग-सुख की स्पृहा के कारण पुण्यात्मा के जीवन में भोग को अपने लिए सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता पैदा होती है और वह इसके लिए भगवान् की भी पूजा करता है तथा रावण को भी सन्तुष्ट रखना चाहता है यही देवताओं की समस्या है। यही कारण है कि

चित्रकूट में भगवान् राम के पास भी दिखायी देते हैं और लका में रावण की सभा में भी। गोस्वामीजी लिखते हैं–

> अमर नाग किन्नर दिसिपाला।
> चित्रकूट आए तेहि काला ॥ २/१३३/1

और जब हनुमान्‌जी रावण की सभा में पहुँचते हैं, तब वे देखते हैं कि–

> कर जोरें सुर दिसिप बिनीता। ५/१६/७

–देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े हुए बड़ी नम्रता प्रदर्शित करते हुए खड़े हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि राम को प्रसन्न रखो, जिससे वे देते रहें और रावण को भी प्रसन्न रखो, जिससे वह छीन न ले। भले और बुरे दोनों को प्रसन्न रखना ही देवताओं का दर्शन है। भले को प्रसन्न रखो, क्योंकि उससे मिलने की सम्भावना है और बुरे व्यक्ति को प्रसन्न रखो, क्योंकि उससे भय है। इस प्रकार जो लोभ और भय दोनों की पूजा, दोनों की स्तुति करता हो ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान् को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है? वह तो मात्र अपने भोग को सुरक्षित रखना चाहता है, इसीलिए वह भगवान् की स्तुति करता है, उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है।

खर-दूषण की सेना के साथ प्रभु के युद्ध के सन्दर्भ में गोस्वामीजी देवताओं की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्रण करते हैं। जब खर और दूषण चौदह हजार राक्षसों की सेना लेकर श्री राम पर धावा बोलते हैं, तो प्रभु लक्ष्मण से कहते हैं —

लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर ।
आवा निसिचर कटकु भयंकर ॥ ३/१७/११

—तुम जानकीजी को गिरि-कन्दरा में ले जाओ और उनकी रक्षा करो । लक्ष्मणजी वैसा ही करते हैं । और देवता क्या करते हैं ? वे आकाश में आकर युद्ध देख रहे हैं और बड़े व्याकुल हैं । गोस्वामीजी लिखते हैं—'सुर डरत . . . ' । जो लड़ रहा है वह नहीं डर रहा है । जो देख रहे हैं वे डर रहे हैं ! और वे डर क्यों रहे हैं ?—

सुर डरत चौदह सहस प्रेत
बिलोकि एक अवध धनी । ३/१९/छं ४

—यह सोचकर कि यह कैसा अन्याय हो रहा है—एक ओर अकेले श्री राम और दूसरी ओर चौदह हजार हजार प्रेत ! गोस्वामीजी का व्यंग्य यह है कि ये जो देखनेवाले डर रहे हैं, उनकी संख्या है करोड़ों । अगर इन देखने वालों को संख्या का इतना ही डर है तो उनमें से चौदह हजार लोग नीचे आकर भगवान् श्री राम की ओर खड़े क्यों नहीं हो जाते ! इससे संख्या की कोई समस्या न रह जायगी । पर देवता यह नहीं करेंगे । उनकी मनोवृत्ति तो यह है कि लड़े कोई और, मारे कोई और, कष्ट सहे कोई और, हम तो बाद में फूल बरसाने और बधाई देने पहुँच जाएँगे ! ऐसे धर्मात्मा और पुण्यात्मा लोग यदि कल्पना करें कि वे धर्म और पुण्य को जिता सकते हैं, तो यह एक हास्यास्पद बात है । ऐसे लोगों की सहानुभूति का भला क्या मूल्य !

गोस्वामी जी एक और व्यंग्य करते हैं–देवता हारता है और बन्दर जीतता है। फिर यह भी कहा गया है कि देवता ही बन्दर बनकर आये थे। तो, जो अमर है, वह हार गया और मरणधर्मा बन्दर जीत गया! महान् शस्त्रविद् देवता हार गया, और बन्दर के रूप में आकर, जो बिलकुल शस्त्रविद् नहीं है, वह जीत गया। इतना शक्तिशाली देवता हार गया और अल्पशक्ति बन्दर जीत गया! यह पते की बात है। ऐसा क्यों? इसलिए कि देवता के रूप में उनका लक्ष्य है भोग और बन्दर के रूप में उनका लक्ष्य है सेवा। भोग को बचाये रखने के चक्कर में देवता राम के पास भी दिखते हैं और रावण के भी पास, पर सेवा के लिए बन्दर केवल राम के पास रहते हैं। देवता के रूप में स्वर्ग में जाकर अपने पुण्य का भोग करते हैं। और बन्दर के रूप में वे पृथ्वी पर उतरकर प्रभु की सेवा करते हैं। ब्रह्माजी देवताओं से कहते है—

बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ। १/१८७

—तुम अब बन्दर बनो। अब तक तुमने पुण्य का फल भोग माना था, अब यह सीखो कि पुण्य का फल सेवा करना है। जाओ, पृथ्वी में जाकर भगवान् की प्रतीक्षा करो, साधना करो और जब भगवान् आवें, तब लड़ो। और लक्ष्य का यह अन्तर भोग और सेवा का यह अन्तर देवता और बन्दर को अलग अलग कर देता है,

यद्यपि बन्दर भी देवता के ही रूप हैं।

लंका में जब भगवान् राम विजयी हुए तो देवता उन्हें बधाई देने के लिए आये। वे दूर खड़े हैं। भगवान् राम के पास नहीं पहुँच पाते, क्योंकि बन्दर प्रभु को घेरे हुए बैठे हैं। यह बड़ा सार्थक संकेत है कि देवता एक रूप में भगवान् के समीप है और दूसरे रूप में उनसे दूर। देवताओं को कहना पड़ा——

कृतकृत्य बिभो सब बानर ए।
निरखंति तवानन सादर ए॥
धिग जीवन देव सरीर हरे।
तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥ ६/११०/छं ६

—हे प्रभो, ये सब वानर धन्य हैं, जो आदरपूर्वक आपका मुख देख रहे हैं और हमारे जीवन और देव-शरीर को धिक्कार है, जो आपकी भक्ति से रहित हुए हम आपसे दूर संसार के विषयों में डूबे पड़े हुए हैं।

तो, जीवन का लक्ष्य यदि भोग है, तो हमारा पुण्य हमें भोग देगा सही, पर भोग से जो रोग आदि की समस्याएं उपजेंगी, उनसे यह पुण्य हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा। फिर, भोग व्यक्ति के जीवन में कायरता उत्पन्न करता है, जो देवताओं के उदाहरण से स्पष्ट है। जब ये देवता बन्दर बनकर सेवावृत्ति धारण करते हैं, तब उन पर प्रभु की कृपा होती है और उनके जीवन से कायरता दूर होती है। यही बात विभीषण के जीवन में है। जब तक उनकी भोग के प्रति लिप्सा है, तब

तक वे राम और रावण दोनों की भक्ति करते हैं। पर जब वे अन्त:करण में रावण के परित्याग का संकल्प करते हैं, तब उनमें यथार्थ सेवावृत्ति का उदय होता है और वे भगवान् राम के समीप पहुँचते हैं। पर उनमें सेवावृत्ति का यह उदय भी भगवान् की कृपा के फल-स्वरूप होता है और भगवान् की यह कृपा विभीषण के जीवन में रावण के चरण-प्रहार के माध्यम से आती है।

यह भी विलक्षण संकेत प्राप्त होता है कि भक्त और भगवान् दोनों को एक ही प्रकार की परीक्षा देनी पड़ती है। जैसे भक्त पर लात का प्रहार किया गया वैसे ही भगवान् पर भी। अन्तर इतना है कि दोनों स्थानों पर मारनेवाले पात्र अलग अलग स्तर के है। पुराणों में कथा आती है कि भगवान् नारायण की छाती पर भृगु महोदय ने प्रहार किया। और इधर विभीषण की छाती पर रावण प्रहार करता है। भृगु परम पुण्यात्मा हैं और रावण पापी है। परीक्षा के पात्र हैं भक्त और भगवान्। भगवान् की परीक्षा के सन्दर्भ में कथा यह है कि एक बार इस बात पर विवाद छिड़ा कि भगवान् के अनेक रूपों में सर्वश्रेष्ठ रूप कौन है? भृगु को परीक्षा का भार सौंपा गया। वे ब्रह्मा के पास पहुँचे पर उन्हें प्रणाम नहीं किया। इससे ब्रह्मा को बुरा लगा। भृगु सोचने लगे कि ये बड़े शक्तिशाली और सृष्टि के रचयिता तो हैं, पर सम्मान के प्रेमी हैं; यह इनकी कमी है, इसलिए ये श्रेष्ठ नहीं हैं। फिर

वे भगवान् शंकर के पास पहुँचे। उन्हें देखते ही शंकरजी दौड़कर उनसे मिलने के लिए आये। पर भृगु कह उठे —तुम तो चिता की राख लगाये रहते हो, बड़े गन्दे हो, मुझे मत छुओ। यह सुनकर शंकरजी त्रिशूल लेकर उन्हें मारने दौड़े। भृगु ने सोचा कि अरे, ये तो महान् क्रोधी हैं—अभी इतना प्रेम दिखा रहे थे और अब मारने दौड़ रहे हैं; नहीं, ये भी श्रेष्ठ नहीं। तत्पश्चात् वे विष्णु भगवान् के पास क्षीरसागर गये। भगवान् नारायण शयन कर रहे थे और कहा जाता है कि भृगु ने उनकी छाती पर चरण से प्रहार किया। भगवान् उठकर बैठ गये और उन्होंने भृगु के चरण को पकड़ लिया। कहा—महाराज, आपके चरणों को बड़ा कष्ट हुआ होगा, क्योंकि वे तो बड़े कोमल हैं, जबकि मेरा हृदय कठोर है। जब भृगु लौटकर आये, तो उन्होंने घोषणा कर दी कि नारायण ही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ रूप है। पुराणों की यह कथा आप लोगों ने सुनी होगी, पर अन्तरंग में पैठकर तो देखिए कि इसका तत्त्व क्या है। इसका यह अर्थ नहीं कि भृगु ने ब्रह्मा या शंकरजी को जो प्रमाणपत्र दिया, वह सही था। उनके प्रमाणपत्र का कोई बहुत मूल्य नहीं था। वे यदि प्रमाणपत्र न भी देते, तो नारायण की भगवत्ता में कोई अन्तर न आता। यह तो उनकी अपनी कसौटी थी। जैसे कोई पहली कक्षा का विद्यार्थी किसी को एम. ए. का प्रमाणपत्र दे दे, तो उसका क्या मूल्य ? उसके प्रमाणपत्र देने या न देने का कोई अर्थ नहीं। तब

फिर यह जो भृगु ने भगवान् नारायण की परीक्षा ली, उसका क्या तत्त्व है? वास्तव में जब भगवान् ने उनसे कहा कि आपके चरणों में चोट लग गयी होगी, तो इसमें स्तुति और व्यंग्य दोनों हैं। वह कैसे? भृगु ब्राह्मण हैं, अकिंचन हैं। एक नया दृश्य उपस्थित होता है। ऐसा तो देखा जाता है कि एक अकिंचन किसी लक्ष्मीपति के पास जाकर अपमानित या लांछित हो, पर ऐसा बहुधा नहीं देखा जाता कि अकिंचन जाकर लक्ष्मीपति का ही अपमान कर दे। और अपमान भी कैसा किया? हृदय पर चरण से प्रहार किया। लक्ष्मीजी ने जब प्रश्नसूचक दृष्टि से मुनि की ओर देखा, तो मुनि बोले—ये सो रहे हैं इसलिए इन्हें जगा रहे हैं! तो क्या भगवान् सो रहे थे? उनका तो शयन भी जागरण ही है। फिर भृगु किनको जगाने चले थे? इस प्रसंग का एक सांकेतिक अर्थ है। भृगु हैं त्यागी, तपस्वी और भगवान् हैं लक्ष्मी-पति। जैसे भृगु में त्याग का अहंकार था, उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् में भी अपने लक्ष्मीपतित्व का अभिमान यदि जाग उठता, तब क्या होता? संसार में ऐसे अहंकारों की टकराहट प्रायः ही दिखायी देती है। एक व्यक्ति को त्याग का अहंकार है कि मैंने इतना छोड़ दिया, तो दूसरे को संग्रह का अहंकार है कि मेरे पास इतना धन है। ये दोनों अहंकार एक दूसरे से भिड़ते रहते है। पर यहाँ पर भृगु तो अपने त्याग का अहंकार लेकर आये, लेकिन लक्ष्मीपति इतने निरहंकारी निकले कि त्यागी हार गये!

लक्ष्मीपति शरीर से तो जगे, पर उनका अहंकार नहीं जग पाया। और व्यंग्य यह था कि प्रभु पूछ बैठते हैं—महाराज, आपको चोट तो नहीं लगी ? भृगु आये थे भगवान् को चोट पहुँचाने। यदि भगवान् का अहं जागता कि कहाँ मैं साक्षात् भगवान्, लक्ष्मीपति और कहाँ यह अकिंचन ब्राह्मण,और इसकी धृष्टता तो देखो कि मुझ पर प्रहार कर रहा है,—तब तो भगवान् को अवश्य चोट लग जाती। पर भगवान् का अहं नहीं जगा, इसलिए उनकी विजय हो गयी और त्यागी पराजित हो गया। यदि कभी ऐसा हो कि प्रहार करनेवाला जिस पर प्रहार करे उसे तो चोट न लगे और स्वयं प्रहार करनेवाले को ही चोट लग जाय, तो इससे बड़ा कोई अचरज नहीं हो सकता। यहाँ पर ऐसा ही हुआ। अभिप्राय यह है कि सही अर्थों में व्यक्ति को चोट तब लगती है, जब वह अपने 'मैं' पर, अपने अहं पर प्रहार का अनुभव कर तिलमिला जाता है। भगवान् नारायण में तो रंचमात्र भी अहंकार नहीं है, इसीलिए वे जगद् वन्द्य हैं, जगत्पूज्य हैं। तभी तो वे मुसकराकर मुनि से पूछते हैं कि चोट तो नहीं लगी ? और भृगु को अपनी भूल का ज्ञान होता है। वे लौट आते हैं। भगवान् परीक्षा में खरे उतरते हैं।

और आज तो भक्त की परीक्षा है। विभीषण की सारी साधना, उनका पुण्य, उनका धर्म आज कसौटी पर है। रावण उन पर चरण-प्रहार करता है। यह कोई नयी बात नहीं थी, क्योंकि संसार में प्रहार किसको नहीं

झेलना पड़ता ? जीवन में कौन अपमानित नहीं होता ? भगवान् पर भी जो प्रहार हुआ, वह भी कोई नयी बात नहीं थी। इस जगत् में ऐसा कोई नहीं, जो किसी से ठुकराया न जाय। पर यह सब होते हुए भी भक्त और भगवान् की दृष्टि का भेद है। घटनाओं का भेद नहीं है, घटनाएँ तो समान दिखायी दे रही हैं। हमारी सच्ची परीक्षा घटनाओं के परिवर्तन में नहीं है, बल्कि इसमें है कि हम घटनाओं से क्या लेते और सीखते हैं। हमारी सच्ची परीक्षा दृष्टि के परिवर्तन में है कि हम किस दृष्टि से घटनाओं को देखते हैं। आप थोड़ा विचार करके देखें, विभीषण पर जो चरण-प्रहार हुआ, क्या वैसा अपमान सभाओं में बहुत से लोगों का नहीं होता ? मुझे याद आता है, एक बार तुलसी जयन्ती के अवसर पर एक कवयित्रीजी ने एक बड़ी सुन्दर कविता सुनायी और यह कहा कि लोग तुलसीदासजी की जय बोलते हैं, पर मैं तो रत्नावली जी की जय बोलूँगी, जिन्होंने कठोर व्यंग्य करके, डाँटकर तुलसीदासजी को सन्त बना दिया! मैंने कहा—अगर तुलसीदासजी पत्नी की डाँट से सन्त बनते। तब तो घर घर तुलसीदास पैदा हो जाते ! हजारों-लाखों लोग तो डाँट सहते रहते हैं, पर क्या वे सब तुलसीदास बन जाते हैं ? अरे, क्या कोई डाँट या प्रहार से तुलसीदास या विभीषण बन जाता है ? लोग तो बड़े सहनशील होते हैं, वे तो बड़े बड़े चरण-प्रहार झेल लेते हैं। उनका लाख अपमान हो, उन पर लाख प्रहार हों,

पर वे अडिग रहते हैं, मानो गीता के समत्व में स्थित हों! यह क्या कोई स्पृहणीय स्थिति है? सच्चा समत्व तो साध्य की स्थिति है। साधक के जीवन में यह समत्व भला कहाँ से आ सकता है? साध्य की स्थिति में बिना पहुँचे यदि किसी के जीवन में समत्व-सा दिखायी दे, तो वह ज्ञानजन्य नहीं बल्कि कायरता और अज्ञानजन्य होगा।

गोस्वामीजी एक अनोखा संकेत देते हैं। वे कहते हैं—

आठवँ जथालाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥ ३/३५/४

—स्वप्न में भी दूसरों का दोष नहीं देखना चाहिए। और इधर 'मानस' के प्रारम्भ में वे सन्त और असन्त के लक्षण लिखते हैं। किसी ने उनसे कहा—महाराज, एक ओर तो आप शिक्षा देते हैं कि दूसरों का दोष नहीं देखना चाहिए, और दूसरी ओर आप स्वयं असन्तों के दोष गिना रहे हैं। हमें तो लगता है कि दोष देखने में भी आपकी दृष्टि बड़ी पैनी है। या तो आपको लिखना था कि दोष मत देखो, या फिर आप लिखते कि दोष देखो। आप स्वयं तो दोष देखें और दूसरे से कहें कि दोष न देखना भक्त का लक्षण है, यह विरोधाभास है। गोस्वामीजी इसका सार्थक उत्तर देते हैं, कहते हैं—नहीं भाई, दोष और गुण अवश्य देखना चाहिए। दोष-गुण का अभाव साध्य की स्थिति में होता है, पर यदि साधक

के जीवन में गुण और दोष का दर्शन न होगा, तो अनर्थ हो जायगा। पर हाँ, यह सीख लेना चाहिए कि गुण और दोष कैसे देखें। बहुधा जब हम गुण देखते हैं, तो गुण के प्रति हमारी आसक्ति न हो गुणी के प्रति हो जाती है और इससे गुण हमारे बन्धन का कारण बन जाता है। उसी प्रकार जब हम दोष देखते हैं, तो दोष से घृणा न कर दोषी से करने लगते हैं, जिससे दोष हमारे अन्तःकरण में और भी गहरे पैठ जाता है। ऐसी स्थिति में साधक क्या करे? वह दोष और गुण को किस प्रकार देखे? गोस्वामीजी कहते हैं कि वह दोष और गुण को इस प्रकार देखे, जिससे वह दोष को पहचानकर उसका त्याग कर सके और गुण को समझकर ग्रहण कर सके। वे लिखते हैं—

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥१/५/२

अतः साधक का कर्तव्य है कि वह गुण और दोष का दर्शन राग और द्वेष के लिए न करे, बल्कि अपने जीवन में गुणों का संग्रह और दोषों का त्याग करने के लिए करे। विभीषणजी की दृष्टि ऐसी ही थी। इसलिए रावण के चरण-प्रहार में भी प्रभु का ही संकेत देख सके। उन्हें अपने दोष का ज्ञान हुआ और वे उसके त्याग में व्रती हुए।

अब यह जो रावण का विभीषण पर चरण-प्रहार है, वह विभीषण के पाप का फल था अथवा पुण्य का?

इसके उत्तर में कहें कि पाप और पुण्य की दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है– एक धर्ममूलक और दूसरी, भक्ति-मूलक। धर्म मूलक व्याख्या यह है कि जो पाप करेगा, उसकी सम्पत्ति नष्ट हो जायगी, उसका परिवार मिट जायगा और उसके जीवन में अभाव बना रहेगा; और जो पुण्य करेगा, उसे पद मिलेगा, सत्ता मिलेगी, धन मिलेगा, यश मिलेगा, उसका सुख बढ़ेगा। लेकिन भक्त लोग पाप और पुण्य की परिभाषा भिन्न प्रकार से करते हैं। वे कहते हैं कि पाप और पुण्य की परिभाषा वस्तु पर निर्भर नहीं करती अपितु वह वस्तु, व्यक्ति के अन्तःकरण पर जो प्रभाव डालती है उस पर निर्भर करती है। जैसे भगवान् राम का राज्य छिन गया। अब यह पाप का फल है या पुण्य का ? यदि घटना को हम मात्र भौतिक दृष्टि से देखें और ज्योतिषियों से इसका कारण पूछें, तो वे कुण्डली उठाकर देखेंगे और तुरन्त कह देगें कि श्री राम की कुण्डली में मंगल खराब हो गया था। अब भगवान् श्री राम का क्या मंगल खराब होगा ? वे तो स्वयं मंगलस्वरूप हैं– **'मंगल भवन अमंगल हारी'** (१/६/२)। हाँ, बेचारे ज्योतिषियों का मंगल जरूर खराब हो जाता है! अब यदि इस घटना को धर्म की दृष्टि से देखें और पूछें कि यह पाप का फल है कि पुण्य का, तो क्या उत्तर होगा ? यह प्रश्न जरा भगवान् राम से पूछिए। वे तो यही कहेंगे कि जब मुझे राज्य दिया जा रहा था, तो लगता था कि मैंने कोई पाप किया है, पर जब छिन गया, तो मैंने समझा

लिया कि इसके पीछे मेरा पुण्य ही पुण्य है। और प्रभु यही बात कैकेयी अम्बा से कहते भी हैं। चित्रकूट में वे जब तीनों माताओं से मिलते हैं, तो पहले वे कैकेयी अम्बा से मिलते हैं फिर सुमित्रा अम्बा से और तत्पश्चात् कौसल्या अम्बा से। प्रभु तीनों से तीन प्रकार का व्यवहार करते हैं। पहले वे कैकेयी अम्बा के हृदय से लग जाते हैं, फिर उनके चरणों में प्रणाम करते हैं। तत्पश्चात् सुमित्रा अम्बा के चरणों में प्रणाम करते हैं और फिर उनके हृदय से लगते हैं। अन्त में कौसल्या अम्बा को केवल प्रणाम करते हैं, उनके हृदय से लगते नहीं बल्कि कौसल्या अम्बा स्वयं उन्हें उठाकर हृदय से लगा लेती हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं—

> प्रथम राम भेंटी कैकेई।
> सरल सुभाय भगति मति भेई॥
> पग परी कीन्ह प्रबोध बहोरी॥ २/२४३/७-८

सुमित्रा अम्बा के सन्दर्भ में—

> गहि पद लगे सुमित्रा अंका। १/२४४/३

और कौसल्या अम्बा के सन्दर्भ में—

> पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता।
> परे पेम ब्याकुल सब गाता॥
> अति अनुराग अंब उर लाए। १/२४४/३

इन तीन प्रकार के अलग अलग व्यवहार का क्या तात्पर्य है? यदि कोई प्रभु से पूछ दे कि आप मर्यादा पुरुषोत्तम होकर भी इतनी सी मर्यादा का ध्यान नहीं

रखते कि आपको बड़े को पहले प्रणाम करना चाहिए और फिर छोटे को ? कम से कम मर्यादा के नाते तो आपको कौसल्या अम्बा को पहले प्रणाम करना चाहिए था ? तो प्रभु उत्तर में कहेंगे मैंने तो पहले बड़े को ही प्रणाम किया । सो कैसे ? प्रभु कहेंगे–लोग मुझे ईश्वर कहते हैं, तो इस प्रकार कौसल्या अम्बा ने ईश्वर को जन्म दिया । और भरत हैं सन्त । तो कैकेयी अम्बा ने सन्त को जन्म दिया । अब सन्त तो ईश्वर से बड़ा होता है, इसलिए सन्त को जन्म देनेवाली ईश्वर को जन्म देनेवाली से बड़ी है, इसी-लिए मैंने उनको पहले प्रणाम किया ! यह प्रभु का अपना अनोखा तर्क है ।

फिर, प्रभु माताओं को प्रणाम करने से पूर्व जो कैकेयी अम्बा के हृदय से लग जाते हैं, उसमें भी उनका एक गूढ़ संकेत है । मानो प्रभु कैकेयी अम्बा से कहते हैं माँ मेरे लिए तो सभी माताएँ पूज्य हैं, पर मेरे हृदय से यदि किसी का हृदय मिलता है, तो वह तुम्हारा हृदय है । अन्य माताओं ने तो कह ही दिया कि राम, तुम राज्य ले लो । यह सुनकर मेरे मन में कितनी व्याकुलता हो गयी थी । मैं सोचने लगा था कि हमारे वंश में यह कितना अन्याय है कि बड़े को राज्य दिया जाता है––

> बिमल बंस यहु अनुचित एकू ।
> बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ।। २/६/७

––केवल तुम्हीं ऐसी हो, माँ, कि मेरा हृदय पहचान सकीं

और पिताजी से दो वरदान माँग लिये कि भरत को राज्य मिले। तुमने मेरे मन को जितना पहचाना है, उतना और कोई नहीं पहचान सका। अगर मुझे बलात् राज्य दे दिया जाता, तो वह मेरा दुर्भाग्य होता। मैं तो राज्य मिलने की बात सुनकर ही सोचने लगा था कि मेरे सिर पर एक महान् बोझ लादा जा रहा है। मुझे लग रहा था कि मैं राजा क्या बनाया जा रहा हूँ, मुझे तो एक मजदूर बनाया जा रहा है—मुझे राज्य क्या दिया जा रहा है, कष्ट दिया जा रहा है। पर दूसरे दिन जब मुझे पता चला कि तुम मुझे वन भेज रही हो, तब सचमुच मुझे लगा कि तुमने मेरे हृदय की बात भाँप ली है। मुझे तो उसमें चार चार लाभ दिखायी दिये—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥ २/४१

—एक तो वन में मुनियों से मिलन का लाभ; दूसरे पिता की आज्ञा का पालन का लाभ और तीसरे, तुम्हारी सम्मति के अनुसार चलने का लाभ। और चौथा तथा सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ, माँ, कि

भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू। २/४१/१

और प्रभु के कथन की पुष्टि में गोस्वामीजी लिखते भी हैं कि—

मुख प्रसन्न चित चौगुन चाउ।२/५०/८

—प्रभु का मुख प्रसन्न है तथा उनके चित्त में चौगुना उत्साह है। यही कारण है कि प्रभु अपने वनवास को पाप का

नहीं, मंगल के बिगड़ जाने का नहीं, अपितु पुण्य का फल मानते हैं । वे वाल्मीकिजी से व्याख्या करते हुये कहते भी हैं–

तात बचन पुनि मातु हित भाई भरत अस राउ ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ ॥ २/१२५

—हे प्रभो, पिता की आज्ञा का पालन, माता का हित और भरत-जैसे स्नेही एवं धर्मात्मा भाई का राजा होना और फिर मुझे आपका दर्शन होना, यह सब मेरे पुण्यों का प्रभाव है ।

(क्रमशः)

सब प्रकार की निष्क्रियता से बचे रहना चाहिए । क्रियाशीलता का अर्थ ही है – प्रतिकार । मानसिक और भौतिक सब प्रकार की बुराइयों का प्रतिकार करो; और जब तुम इस प्रतिकार में सफल हो जाओगे, तभी शान्ति आयेगी ।

स्वामी विवेकानन्द

मूढ़ और तत्वज्ञ का भेद

(गीताध्याय ३, श्लोक २६-२९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्मसंगिनाम् (कर्म में आसक्त) अज्ञानां (अज्ञानियों का) बुद्धिभेदं (बुद्धिभेद) न ([illegible]) जनयेत् ([illegible] ी व्यक्ति) युक्तः (युक्त हो, योग में स्थित [illegible] कर्म) समाचरन् (अच्छी तरह करता हु[illegible]) [illegible] नयुक्त रखे)।

"ज्ञानी को चाहिए कि वह कर्म में आसक्त अज्ञानियों में बुद्धिभेद पैदा न करे, अपितु स्वयं योग में स्थित रह, समस्त कर्मों को अच्छी तरह करता हुआ उन सबको भी कर्म में लगाये रखे।"

पिछले श्लोक में कहा गया कि विद्वान् को, ज्ञानी को आसक्ति से रहित होकर उसी प्रकार तीव्र कर्म करना चाहिए, जिस प्रकार एक अज्ञानी कर्म के फल में आसक्त होकर करता है; ऐसा किसलिए ? लोकसंग्रह के लिए, लोगों के समक्ष आदर्श रखने के लिए, ज्ञानी को देखकर लोग सीखते हैं इसलिए। अब प्रस्तुत श्लोक में कह रहे हैं कि यदि ज्ञानी वैसा नहीं करेगा, तो वह अज्ञानियों में बुद्धि-भेद के पैदा होने का हेतु बनेगा। 'बुद्धिभेद' का तात्पर्य है

'बुद्धि का विचलन'। एक तो बुद्धि कहीं स्थिर नहीं हो पाती, और कहीं स्थिर हुई भी, तो शंकाएँ और सन्देह उसे विचलित कर देते हैं। आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं—'बुद्धेः भेदो बुद्धिभेदो मया इदं कर्तव्यं भोक्तव्यं च अस्य कर्मणः फलम् इति निश्चितरूपाया बुद्धेः भेदनं चालनं बुद्धिभेदः'—'मेरा यह कर्तव्य है, इस कर्म का फल मुझे भोगना है—इस प्रकार जो निश्चित-रूपा बुद्धि बनी हुई है, उसको विचलित करना बुद्धिभेद करना है।'

'अज्ञानां कर्मसंगिनाम्'—अज्ञ का विशेषण लगाया 'कर्मसंगी' यानी कर्म में आसक्त। मनुष्य कर्म में आसक्त होता है फल के लिए, अतः कर्मसंगी का अर्थ फलसंगी भी किया जा सकता है। वह फलों में आसक्त किसलिए है? इसलिए कि उसके जीवन में ज्ञान का अभाव है, वह सुखभोग को ही परमार्थ समझ बैठा है। ऐसा समझ-कर यदि ज्ञानी उसे उपदेश देने चले, सोचे कि उसमें ज्ञान का अभाव है, तो चलूँ, मैं उसे ज्ञान देकर उसके अभाव को दूर कर दूँ, उसकी कर्मासक्ति और फला-सक्ति दूर कर दूँ, तो यह कोई सरल काम नहीं है। कर्मासक्ति इतनी सहजता से दूर नहीं होती। ज्ञानी तो जोश-खरोश में उसे ज्ञान का पाठ पढ़ाएगा, पर वह पाठ अज्ञानी धारण कर सके तब न? बहुधा स्थिति तो ऐसी होती है कि अज्ञानी ज्ञानी के उपदेश से प्रभावित हो कर्म को तो छोड़ बैठता है पर ज्ञान का धारण नहीं कर

पाता, तब 'इतो नष्टः उतो भ्रष्टः' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

हमारे एक परिचित हैं। अच्छे समाजसेवी थे, श्रमिकों के बीच काम करते थे। जिज्ञासु भी थे। विवाह-शादी के चक्कर में नहीं फँसे थे। वे विवाह को 'चक्कर' कहा करते थे। उन्हें समाज के बीच, सर्वहारा के बीच काम करने में सुख भी मिलता था। उनका किसी महात्मा से परिचय हो गया। महात्माजी ने उसे इस प्रकार लोगों के बीच काम करते देख उससे कहा, "छोड़ो अब यह सब ! बहुत तो हुआ। कब तक इस माया-प्रपंच में लगे रहोगे ? अपने परलोक का भी ध्यान करो। तुमने गृहस्थी तो की नहीं, किसके लिए यह सब खटपट करते हो ? छोड़ो सब, हमारे साथ चलो।" और वे सज्जन सब छोड़कर महात्माजी के साथ चले गये। पर उनका मन तो ध्यान-धारणादि के लिए तैयार था नहीं। एक वर्ष के भीतर ही उनका मन उच्चट गया। वे फिर से लोगों के बीच काम करने आये, पर बुद्धि की स्थिरता जाती रही थी, इसलिए वहाँ भी जम न पाए। अब कभी इधर तो कभी उधर भटकते रहते हैं और महात्माजी को गालियाँ देते रहते हैं कि उन्होंने उनकी मानसिक स्थिरता भंग कर दी ! यही बुद्धिभेद है। एक बार बुद्धिभेद पैदा हो जाने से व्यक्ति कहीं स्थिर नहीं रह पाता। इसीलिए भगवान् कृष्ण यहाँ पर ज्ञानी व्यक्ति को निर्देश

देते है कि वह कर्म में आसक्त अज्ञानी की बुद्धि को ज्ञान की बातें बताकर विचलित न करे।

प्रश्न उठता है कि तब क्या अज्ञानी को ज्ञान नहीं देना चहिए ? उसके अन्धविश्वासों और कुसंस्कारों को बने रहने देना चाहिए ? यदि ऐसा हो, तब तो अज्ञानी का अज्ञानान्धकार कभी दूर न होगा और श्रीकृष्ण इस बात के दोषी माने जाएँगे कि उन्होंने अज्ञान को नष्ट करने की प्रेरणा देने के बदले उसे पुष्ट करने की ही प्रेरणा दी। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भगवान् का तात्पर्य अज्ञान को बनाये रखने से नहीं है। वे तो चाहते हैं कि व्यक्ति का अज्ञान दूर हो, पर वे नहीं चाहते कि अज्ञान तो दूर न हो और बुद्धि में विचलन, अस्थिरता आ जाय। अज्ञान को दूर करने का एक सार्थक उपाय है। उस सार्थक उपाय का सहारा ज्ञानी को लेना चाहिए। कर्म की निंदा करना, कर्म से विरत होने का उपदेश करना ज्ञान लाने का उपाय नहीं है।

एक छोटा बच्चा जब खड़ा होना शुरू करता है, तो उसको चलना सिखाने के लिए तीन पैर की गाड़ी उसके सामने रखी जाती है। उसकी माँ, उसका पिता, उसके घर के बड़े-बूढ़े उस तीन पैर के गाड़ी का सहारा लेकर, झुककर स्वयं चलते हैं – 'मुन्ना! ऐसे चलो !' तो, यह जो बड़े लोगों का तीन पैर की गाड़ी के सहारे चलना है, क्या वह निन्दनीय है, हेय है ?

क्या कोई कहता है कि देखो तो, यह आदमी क्या नादानी कर रहा है, बड़ा होकर तीन पैर की गाड़ी के सहारे बच्चों के समान चल रहा है ? कोई ऐसा नहीं कहता, क्योंकि सभी जानते हैं कि वह आदमी छोटे बच्चे को चलना सिखाने के लिए स्वयं वैसा चल रहा है। इसमें बड़े आदमी की निन्दा नहीं बल्कि प्रशंसा है। ठी ` इसी प्रकार जो ज्ञानी है, वह स्वयं कर्म करके दिखा दे कि अज्ञानी किस तरह कर्म करें। ज्ञानी को अपने लिए कर्म की आवश्यकता नहीं, वयप्राप्त व्यक्ति को अपने चलने के लिए तीन पैर की गाड़ी की आवश्यकता नहीं, वह बच्चे को चलना सिखाने के लिए वैसा करता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी अज्ञानी को कर्म करना सिखाने के लिए स्वयं कर्म करे। वह अज्ञानी में बुद्धिभेद पैदा न करे।

जैसे, बच्चा तीन पैर की गाड़ी का सहारा लेकर चल रहा है और हम कहना शुरू कर दें—'यह क्या ! गाड़ी छोड़कर चलो ! यह क्या गाड़ी का सहारा लेकर चलते हो ! बिना किसी सहारे के चलना सीखो !' सुनने में बात तो अच्छी है, पर क्या बिना सहारे के कोई बच्चा चलना सीख सकता है ? प्रारम्भ में उसे सहारे की आवश्यकता पड़ेगी ही। और यदि हमने हठपूर्वक उसे सहारा लेने सेवंचित किया, तो बहुत सम्भव है कि वह पंगु हो जाय, जीवन भर चल ही न सके। उचित तो यही है कि हम स्वयं तीन पैर की गाड़ी का सहारा लेकर, चलकर

उसे चलना सिखाएँ, जिससे वह शीघ्र से शीघ्र चलना सीख ले। एक दिन जब वह चलना सीख लेगा, तो स्वयं गाड़ी का त्याग कर देगा।

इसीलिए ज्ञानी के लिए निर्देश है कि वह स्वयं कर्मों का भलीभाँति आचरण करता हुआ कर्मासिक्त अज्ञानी को कर्म में लगाए। ज्ञानी के लिए कहा है– 'समाचरन्'– अच्छी तरह आचरण करता हुआ। इसका क्या मतलब ? ज्ञानी जानता है कि कर्म का काँटा कहाँ पर चुभता है। वह अपने ज्ञान का लाभ अज्ञानी को दे और उसे सतत कर्म करने में प्रेरित करें। ज्ञानी के लिए एक दूसरा विशेषण दिया– 'युक्त':–योग में स्थित हो। यदि ज्ञानी योग में स्थित हो कर्म न करें, तब तो वह अज्ञानी को सिखा ही नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति तो मिलेंगे, जो ज्ञान में स्थित हैं और समाज की परवाह नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भी मिलेंगे, जो समाज के लिए, दूसरों के लिए काम करते हैं, पर ज्ञान में स्थित नहीं हैं। पर ऐसे व्यक्ति तो अत्यन्त विरल ही मिलेंगे जो ज्ञान में स्थित होकर भी समाज में रहकर लोगों के हित के लिए काम करते हैं। यहाँ भगवान् कृष्ण ऐसे ही विरल ज्ञानी की चर्चा कर रहे हैं।

बुद्धिभेद दो प्रकार से हो सकता है। एक तो व्यक्ति उपदेश करके बुद्धि में विचलन पैदा कर दे और दूसरा, स्वयं कर्म से विरत हो दूसरों के मन में विचलन का संचार कर दे। इस प्रकार के ज्ञानी व्यक्ति से चाहे दूर रहकर उसका उपदेश सुनें या उसके समीप

रहकर उसका आचरण देखें, दोनों ही स्थितियों में कर्म के प्रति वितृष्णा पैदा होती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं कर्म करे (समाचरन) और अज्ञानियों को कर्म करने में लगावे (जोषयेत्), जिससे किसी भी प्रकार का बुद्धिभेद पैदा न हो।

श्रीरामकृष्णदेव तो सभी मतों और पन्थों से जाकर उस परम सत्य को पा चुके थे और सहज स्थिति में अवस्थान करते थे, फिर भी ब्राह्ममुहूर्त में उठकर साधना किसके लिए करते थे ?—अपने युवक-शिष्यों को साधना की प्रेरणा देने के लिए। उनके अपने लिए कोई प्रयोजन नहीं था कि वे इतनी सुबह उठें, पर वे साधकों को साधना में लगाने के लिए स्वयं उठते थे और साधना में बैठते थे। स्वयं आकुल प्रार्थना करके दूसरों को सिखाते थे कि ईश्वर को पाने के लिए किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए। स्वयं अपनी पत्नी श्री सारदा देवी को अपने पास रखकर वे मानो गृहस्थों को शिक्षा देते थे कि गार्हस्थ्य जीवन का पालन कैसे किया जाय। उन्हें अपने लिए तो सारदा देवी की आवश्यकता नहीं थी, विवाह का प्रयोजन भी नहीं था, क्योंकि विवाह करके भी कभी पति-पत्नी में किसी प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध नहीं रहा, तब यह जो श्रीरामकृष्ण का स्वयं होकर विवाह करना है और पत्नी के साथ गृहस्थ-जीवन बिताना है, यह इसीलिए तो है कि वे गृहस्थों को आदर्श गृहस्थ-जीवन की शिक्षा देना चाहते थे। उन्होंने गृहस्थों में

वैवाहिक जीवन के प्रति बुद्धिभेद पैदा नहीं किया। बहुधा देखा जाता है कि संन्यासी संसारी मनुष्य के मन में गृहस्थ-जीवन के प्रति बुद्धिभेद ला देता है। पर श्रीरामकृष्ण ने बुद्धि का ऐसा विचलन पैदा नहीं किया। वे स्वयं पत्नीधारी बने और संसारियों को दिखाया कि संसार-जीवन कैसे बिताना चाहिए। जब किसी ने उनसे कहा कि महाराज, आपका जीवन तो इतना ऊंचा है कि आपकी ओर देखने से सिर चक्कर खाने लगता है, तो उन्होंने उत्तर दिया—"यह (यानी उनका जीवन) आदर्शस्थानीय रहा। मैंने साँचा बना दिया है, अब तुम लोग अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार इस साँचे में अपना जीवन ढाल लो।" फिर कभी कहा—"मुझे मालूम है मैं जब सोलह आने करूँगा, तब तुम लोग एकाध आना करोगे तो करोगे; जब मैं सोलह नाच नाचूँगा, तब तुम लोग एकाध नाचोगे तो नाचोगे!" श्रीरामकृष्ण मानो संसारी जीव तक नीचे उतरते हैं और हाथ पकड़कर धीरे धीरे उसे ऊपर खींचते हैं।

तो, ज्ञानी सब प्रकार का कर्म करता हुआ अज्ञानी को कर्म की प्रेरणा देगा तथा अपने को योग में स्थिर रहकर अज्ञानी को उस उच्च ज्ञान की स्थिति की ओर भी प्रेरित करेगा, जिसमें अवस्थित हो जाने पर कर्म का उद्वेलन उसे प्रभावित नहीं कर पाएगा। अज्ञानी आश्चर्य से ज्ञानी को देखेगा कि कैसे घोर कर्म में लगा

नहीं होता है, शान्त बना रहता है, जबकि उसका स्वयं का (अज्ञानी का) मन चंचल और अशान्त हो जाता है। वह देखकर ज्ञानी से कर्म की शिक्षा लेगा, उस रहस्य को जानने की चेष्टा करेगा, जिसके कारण ज्ञानी कर्म करके भी परम शान्त बना रहता है।

यहाँ पर ज्ञानी के लिए निर्देश है – 'सर्वकर्माणि जोषयेत्' –'वह अज्ञानी को सब कामों में लगाए'। अर्थात्, ज्ञानी स्वयं सब काम करे और अज्ञानी को भी सब कामों में लगाए। 'सर्व कर्म' का क्या तात्पर्य ? क्या उचित-अनुचित का विचार बिना किये सब प्रकार का काम किया जाए ? ऐसा अर्थ तो नहीं हो सकता। गीता में 'कर्म' शब्द का अपना विशेष अर्थ है। थोड़ा उस अर्थ का चिन्तन करें। कर्म दो प्रकार का होता है – अच्छा और बुरा। बुरे कर्म को गीता ने 'विकर्म' कहकर पुकारा है, जिसकी चर्चा चौथे अध्याय के १७ वें श्लोक की व्याख्या में करेंगे। आलस्य और प्रमाद के कारण जो कर्महीनता है, उसे 'अकर्म' कहकर पुकारा गया है। अब यह जो अच्छा कर्म है, उसके भी दो रूप हैं। एक है सकाम और दूसरा है निष्काम। जैसे, मैंने किसी का भला किया। यदि बदले में कुछ चाहता हूँ, तो वह अच्छा कर्म सकाम है; यदि नहीं चाहता, तो निष्काम है। या जैसे भगवान् की पूजा करता हूं, यज्ञादि कर्म करता हूँ। अब यदि मैं फल की आशा रखकर यह सब करता हूँ, तो वह सकाम है पर यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ करता

हूँ, तो निष्काम है। गीता में 'कर्म' शब्द का तात्पर्य है 'अच्छा पर सकाम कर्म'। 'योग' शब्द का भी गीता में विशेष अर्थ है। जहाँ भी इसमें 'योग' शब्द आया है, उसका अर्थ है 'कर्मयोग', और कर्मयोग का तात्पर्य है 'अच्छा पर निष्काम कर्म'। इस दृटि से जब हम पढ़ते हैं कि ज्ञानी सब प्रकार का कर्म करे और अज्ञानी को सब प्रकार के कर्म में लगाए, तो उसका मतलब यही है कि वह सब प्रकार का अच्छा कर्म करे और अज्ञानी को सब प्रकार के अच्छे कर्म में लगाए। पर हाँ, ज्ञानी के लिए वह सब निष्काम होगा, जब की अज्ञानी के लिए सकाम। इसी अन्तर को 'युक्तः' शब्द के द्वारा सूचित किया गया। अज्ञानी भी ज्ञानी को कर्मरत देखकर कर्म की प्रेरणा तो पाएगा ही साथ ही निष्कामता की भी प्रेरणा धीरे धीरे प्राप्त करेगा।

कहा जा सकता है कि ज्ञानी दूसरों को, अज्ञानियों को अपनी वाणी से कर्म की प्रेरणा दे, उसे स्वयं कर्म करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी वैसा कर तो सकता है, पर इससे दो बातें होंगी- एक तो अज्ञानी को कर्म की उतनी प्रेरणा न मिलेगी जितनी ज्ञानी के कर्म करने से मिलती, और दूसरे, ज्ञानी को कर्म करता देख वह जो निष्कामता की अमूल्य शिक्षा पा सकता था, वह न पा सकेगा।

हमारे रामकृष्ण संघ के जनरल सेक्रेटरी थे स्वामी माधवानन्दजी। बाद में वे संघ के अध्यक्ष भी बने।

बेलुड़मठ में नित्य मन्दिरों में प्रणाम करने जाते। एक दिन जब वे ठाकुर के मन्दिर में प्रणाम करने गये, तो देखा कि किसी ने अपने जूते जमीन पर नीचे न रख सीढ़ी पर रख दिये हैं। कई साधुओं ने वह देखा होगा, पर किसी को वह बात चुभी नहीं। माधवानन्दजी का ध्यान तुरन्त उधर गया और उन्होंने हाथ से जूतों को उठाकर नीचे जमीन पर रख दिया। फिर बाजू के नल में हाथ धो मन्दिर में प्रणाम करने के लिए गये। अब माधवानन्द जी इसे अन्य दो प्रकार से भी कर सकते थे। या तो वे अपने पैर से जूतों को जमीन पर गिरा दे सकते थे, या फिर निकट के किसी साधु-ब्रह्मचारी से जूता नीचे रख देने को कह सकते थे। पर उन्होंने यह दोनों नहीं किया, अपने हाथ से उठाकर जूता नीचे रखा। अब हम जिन लोगों ने वह दृश्य देखा था, हम पर तो वह शिक्षा चिरकाल के लिए अंकित हो गयी। ज्ञानी ऐसा तुच्छ काम भी भलीभाँति करके कितना बड़ा और स्थायी प्रभाव वाला उपदेश दे सकता है, उक्त घटना इसका एक उदारहण है। 'सब कामों को करने' का यही तात्पर्य है।

हमारे संघ के वर्तमान अध्यक्ष महाराज हैं। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी। कितने वृद्ध हो गये हैं, चलने में असुविधा होती है, पर नित्य मन्दिर-दर्शन के नियम में बाधा नहीं पड़ने देते। उनके लिए मन्दिर में दर्शन करने का क्या प्रयोजन है? पर नहीं उनका यह कार्य कितने

असंख्य लोगों को प्रेरणा देता है।

हमारे रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृंदावन में स्वामी सारदेशानन्दजी हैं। गोपेश महाराज के नाम से प्रसिद्ध हैं। ('विवेक-ज्योति' में प्रकाशित 'श्री मां सारदा देवी के संस्मरण' लेखमाला के आप ही लेखक हैं।) उनका शरीर अत्यन्त जर्जर और अशक्त हो गया है। ठीक से चल नहीं पाते, लंगड़ाकर और पैरों को घसीट-घसीटकर चलते हैं। फिर भी मन्दिर-दर्शन में नागा नहीं पड़ता। उनके कमरे से मन्दिर लगभग २०० गज की दूरी पर है। परन्तु फिर भी वे नियम पूर्वक मन्दिर में समय से जाते हैं। और ध्यान-भजन करते हैं। वे यह सब अपने कमरे में भी कर सकते थे। कमरे में तो करते ही हैं, पर मन्दिर जाने का नियम तोड़ा नहीं है। वैसा देखें, तो उनके लिए भी मन्दिर में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है, पर उनके इस आचरण से हम देखने वालों को कितनी प्रेरणा मिलती है।

जब मैं उत्तरकाशी में रह रहा था, तब एक महात्मा के पास जाया करता था। उनके पास और भी लोग जाते। साधु-संन्यासी भी जाते और गृहस्थ भी वे वेदान्त, विचार में निमग्न रहते थे। हमें उनसे साधना को बड़ी प्रेरणा मिलती। जब साधु–संन्यासी उनके पास जाते, तो वे ज्ञान का उपदेश करते, पर जब गृहस्थ लोग जाकर उनसे उपदेश की याचना करते, तो कहते– 'तुम लोग हम से कोई लाभ नहीं उठा सकोगे।

लोग रामकृष्ण मिशन के साधुओं से उपदेश लेना। वे तुम लोगों का सही सही मार्गदर्शन कर सकेंगे। मैं उपदेश दूँगा तो गलत समझ के कारण तुम्हें लाभ के बदले हानि की ही अधिक सम्भावना रहेगी।

तो, भगवान श्रीकृष्ण ज्ञानी को निर्देश देते हैं कि वह स्वयं कर्म करता हुआ कर्मासिक्त अज्ञानी के समक्ष कर्मयोग का आदर्श प्रस्तुत करे। इसका अर्जुन के सन्दर्भ में एक निहित तात्पर्य यह भी है कि अर्जुन, तू यदि अपने को ज्ञानी मानता है, तो तुझे सबके सामने आदर्श प्रस्तुत करने के लिए युद्ध करना चाहिए। इसके माध्यम से भगवान् निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच समन्वय साधित करते हैं। केवल निवृत्ति भी मनुष्य को स्वार्थी बना देती है और केवल प्रवृत्ति भी। दोनों ही प्रकार के लोग समाज के लिए हितकारी नहीं होते। एक अध्यात्म का नाम लेकर स्व-केंन्द्रित होता है, तो दूसरा प्रपंच का। आदर्श स्थिति वह है, जब हमारा मन निवृत्ति में निष्ठित हो और देह प्रवृत्ति में। यह दिशा और गति दोनों का समन्वय है। निवृत्ति में दिशा है, तो प्रवृत्ति में गति। ऐसा समन्वय ही समाज को जीवन्त प्राणवन्त बनाता है।

यह सब सुनकर अर्जुन को लगा कि अज्ञानी कर्म में इतना आसस्त क्यों होता है और ज्ञानी के पास कौन सी कीमिया है, जिसके कारण वह घोर कर्म में रत रहता हुआ भी अलिप्त बना रहता है? मूढ़ और

तत्वज्ञ का भेद बताते हुए भगवान् आगे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतेः (प्रकृति के) गुणैः (गुणों के द्वारा) सर्वशः (सब प्रकार से) कर्माणि (कर्म) क्रियमाणानि (सम्पन्न होते हैं) अहंकार-विमूढ- आत्मा (अहंकार से अन्धा हुआ जीव) अहं (मैं) कर्ता (कर्ता हूँ) इति (ऐसा) मन्यते (समझता है)।

"प्रकृति के गुणों के द्वारा समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं। अहंकार से विमूढ़ हुआ व्यक्ति ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूँ।"

तु (परन्तु) महाबाहो (हे अर्जुन) गुण-कर्म-विभागयोः (गुण और कर्म के विभाग के) तत्त्ववित् (तत्त्व को जाननेवाले पुरुष) गुणाः (गुण यानी गुणों के परिणाम इन्द्रियादि) गुणेषु (गुणों में यानी गुणों के विषय रूप-रस आदि में) वर्तन्ते (व्यवहार करते हैं) इति मत्वा (ऐसा जानकर) न (नहीं) सज्जते (आसक्त नहीं होते)।

"परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के विषय में जानने वाला तत्त्ववेत्ता ऐसा मानता है कि गुणों की परिणामरूप इन्द्रियाँ गुणों के ही परिणामरूप रूप-रसादि विषयों में बरत रही हैं और ऐसा समझकर वह आसक्त नहीं होता।"

प्रकृतेः (प्रकृति के) गुणसंमूढा (गुणों से मोहित हुए जन) गुण-कर्मसु (गुणों की क्रियाओं में अर्थात् देहेन्द्रियादि के व्यापारों में) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं) तान (उन) अकृत्स्नविदः

(अल्पज्ञ) मन्दान् (मूढ़ों को) कृत्स्नवित् (सम्पूर्ण तत्त्व को जानने वाला) न (नहीं) विचालयेत् (विचलित न करे ।

"प्रकृति के गुणों से मोहित हुए लोग गुणों की क्रियाओं में देह और इन्द्रियों के व्यापारों में आसक्त होते हैं। ऐसे उन अल्पज्ञ मूढ़ों को सम्पूर्ण तत्त्व का जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे।"

इन श्लोकों के माध्यम से भगवान्, ज्ञानी और मूढ़ का अन्तर स्पष्ट कर देते हैं। क्रिया तो दोनों करते हैं, पर ज्ञानी यह मानता है कि ये क्रियाएं प्रकृति के गुणों के द्वारा हो रही हैं, जबकि मूढ़ समझता है कि मैं करता हूं। प्रकृति के ये गुण एक ओर इन्द्रियों का रूप धारण किये हुए हैं और दूसरी ओर विषयों का। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग सतत चल रहा है। मैं आंखे खोलूंगा, तो रूप दिखायी देंगे ही। कान खोलूंगा तो शब्द सुनायी देगे ही। नाक में बाहर से गन्ध आएगी ही। मुख में कोई वस्तु डालते ही रसना स्वाद लेगी ही। स्पर्श के द्वारा शीतलता-उष्णता, कोमलता-कठोरता का अनुभव होगा ही। ये सब प्रकृति के गुणों के कार्य हैं, जो मनुष्य न करना चाहे तो भी होते हैं। तत्त्वज्ञ इन सब क्रियाओं को इसी निरपेक्ष दृष्टि से देखता है और मानता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और ऐसा समझकर विषयों में आसक्त नहीं होता विषयों का ग्रहण मात्र जीवन निर्वाह के लिए करता है। वह सुन्दर दृश्यों का सौन्दर्य भी देखेगा. शब्द की मधुरता

का भी अनुभव लेगा, गन्ध की सुवास का भी आनन्द उठाएगा, रसना के स्वाद का भी मजा लेगा, पर भीतर से यह बोध बना रहेगा कि यह सब प्रकृति का खेल है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। इसीलिए उसकी कहीं आसक्ति नहीं होती, उसके मन पर किसी विषय का लेप नहीं रहता। किन्तु मूढ़ तो अपने को ही कर्ता मान बैठता है, वह अहंकार से मोहित होकर वास्तविकता को नजरअन्दाज कर बैठता है, इसलिए वह कर्मों में लिप्त हो जाता है।

अतः मूढ़ और तत्त्वज्ञ के भेद का कारण यह हुआ कि मूढ़ व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों के व्यापारों को अपना मानता है, जबकि तत्त्वज्ञ उन्हें प्रकृति के व्यापार मानता है। इसीलिए २९ वें श्लोक में भगवान् कृष्ण ऐसे प्रकृति के गुणों से सम्मोहित जनों को 'मन्द' और 'अकृत्स्नवित् का विशेषण लगाते हैं। 'मन्द' का तात्पर्य अल्पता से होता है। ये मूढ़ जन अल्प दृष्टि सम्पन्न होते हैं 'कृत्स्न' का अर्थ है पूर्ण, अतः 'कृत्स्नवित्' का तात्पर्य हुआ 'पूर्ण को जाननेवाला' 'सम्पूर्ण तत्व का जानने वाल और 'अकृत्स्नवित्' का अर्थ है 'जो पूरा न जानता हो तो, इस २९ वें श्लोक में भगवान् कह रहे हैं कि ऐसे जो अहंकार से मोहित, प्रकृति के गुणों के द्वारा सम्मू गुणों और कर्मों में आसक्त, मन्दबुद्धि, अल्पज्ञ जन हैं उन्हें सम्पूर्ण तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी व्यक्ति विच- लित न करे। यह पुनः २६ वें श्लोक का ही अनुवाद है

वहाँ कहा कि विद्वान् कर्मसंगी अज्ञों में बुद्धिभेद न उत्पन्न करे, यहाँ कहा कि सम्पूर्ण तत्त्व का जानने वाला गुण कर्म में आसक्त अल्पज्ञ मन्द बुद्धि जनों को विचलित न करे। दोनों बातें एक ही हैं। वहाँ विद्वान् कहा, तो यहाँ कृत्स्नवित्–वहाँ कर्मसंगी और अज्ञ कहा, तो यहाँ गुण कर्म में आसक्त अल्पज्ञ और मन्द बुद्धि कहा। यदि तत्त्वज्ञ आग्रह करे कि विषयों में आसक्त अल्पज्ञ मूढ़जनों को ज्ञान का पाठ पढ़ाएँगे तो, दो स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो ज्ञान की स्थिति को ठीक ठीक न समझ वह अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा, या वह ज्ञान की आड़ में कर्मठता को त्यागकर अकर्मण्य और आलसी हो जायगा। भारत में ये दोनों स्थितियाँ रही हैं। मनुष्य ने दुष्कर्म किया और कहा कि मेरे मन पर तो कोई लेप नहीं है– ये तो गुण ही गुणों में बरत रहे हैं ! यह ज्ञान का जान-बुझकर दुरुपयोग है। और दूसरी स्थिति वह है, जहाँ हमने क्रियाशीलता का तो त्याग कर दिया, पर ज्ञान की स्थिति हमारे जीवन में बन नहीं पायी और हम त्रिशंकु के समान हो गये। इन दोनों स्थितियों से मूढ़ व्यक्ति कैसे उबर सकता है इसका संकेत भगवान् कृष्ण अगले श्लोकों में प्रदान करते हैं।

०

रामकृष्ण मठ-मिशन
ग्रामोत्थान कार्य
एक संक्षिप्त प्रतिवेदन

यद्यपि अपने प्रारम्भ से ही रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के केन्द्र जनसाधारण को ऊपर उठाने के कार्य के प्रति समर्पित रहे हैं, फिर भी समाज में से गरीबी और अशिक्षा तथा उनके कारण होनेवाले हानिकारक प्रभावों को दूर करने की गति में तेजी लाने के लिए इस द्विविध संस्था ने १९८० के उत्तरार्ध से 'पल्लीमंगल' के नाम से एक सर्वांगीण ग्रामीण विकास योजना प्रारम्भ की है।

इस योजना को लागू करने के लिए पश्चिम बंगाल के बाँकुड़ा जिला के अन्तर्गत जयरामबाटी तथा हुगली जिला के अन्तर्गत कामारपुकुर तथा अन्य १५ गाँव चुने गये हैं।

अब तक इन गाँवों के ३९२ परिवार विभिन्न योजनाओं का लाभ उठा रहे हैं, जिनमें से कुछ हैं—उन्नत कृषि, मत्स्यपालन, डेरी उद्योग (पशुपालन), कुक्कट-पालन, कुटीर उद्योग, हस्तशिल्प, हाथकरघा, लघु व्यवसाय। चलते-फिरते चिकित्सालय ने इस अवधि में लगभग ३५,००० रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की। समय समय पर दूसरे सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम भी चलाये जाते हैं। पशु-रोगों की चिकित्सा एवं रोक-थाम के लिए भी व्यवस्था है। जो

लोग पाठशालाओं का लाभ लेने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिए रात्रि-पाठशालाएँ खोली गयी हैं।

विगत १६ मार्च को 'पल्लीमंगल' के संयोजकत्व में एक बेकरी का शुभारम्भ जयरामवाटी में रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ ट्रस्टी स्वामी अभयानन्दजी द्वारा किया गया।

'पल्लीमंगल' का कार्य सार्वजनिक दान से चलता है। ऐसे दानों को आयकर-अधिनियम की धारा ३५ सी सी ए के अनुसार आयकर से शत प्रतिशत छूट प्राप्त है। मार्च १९८२ तक 'पल्लीमंगल' के उपर्युक्त कार्यों पर लगभग ६ लाख रुपयों की राशि खर्च की गयी।